INSTITUTE OF DISTANCE EDUCATION IDE
Rajiv Gandhi University

BAHIN302

भारतीय काव्यशास्त्र एवं भाषा विज्ञान-I

BA (HINDI)

5TH SEMESTER

Rajiv Gandhi University
www.ide.rgu.ac.in

भारतीय काव्यशास्त्र एवं भाषा विज्ञान –I

बी.ए. (हिंदी)

(पंचम सत्र)

BAHIN-302

RAJIV GANDHI UNIVERSITY

Arunachal Pradesh, INDIA – 791 112

BOARD OF STUDIES	
Prof. Shyam Shankar Singh, (Head) Dept. Of Hindi Rajiv Gandhi University	**Chairman**
Prof. Chandan Kumar Dept. Of Hindi Delhi University	**External Member**
Prof. Dilip Medhi Dept. Of Hindi Guwahati University	**External Member**
Prof. Oken Lego Dept. of Hindi Rajiv Gandhi University	**Member**
Dr. Arun Kumar Pandey Dept. of Hindi Rajiv Gandhi University	**Co-ordinator**

Authors

Dr. Laxmi Pandey, Dr. Tarrannum Khan, Dr. Seema Sharma, Dr. Kamini Taneja

Revised Edition 2021

All rights reserved. No part of this publication which is material protected by this copyright notice may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the Publisher.

"Infomation contained in this book has been published by Vikas Publishing House Pvt. Ltd, and has been obtained by its Authors from sources believed to be reliable and are correct to the best of their knowledge. However, IDE-Rajiv Gandhi University, the publishers and its Authors shall be in no event be liable for any errors, omissions or damages arising out of use of this information and specifically disclaim any implied warranties or merchantability or fitness for any particular use"

Vikas® is the registered trademark of Vikas® Publishing House Pvt. Ltd.
Vikas® PUBLISHING HOUSE PVT LTD
E-28, Sector-8, Noida: 201301 (UP)
Phone: 0120-4078900 Fax: 0120-4078999
Regd. Office: 7561 Ravindra Mansion, Ram Nagar, New Delhi - 110055
Website: www.vikaspublishing.com Email: helpline @vikaspublishing.com

विश्वविद्यालय : एक परिचय

राजीव गाँधी विश्वविद्यालय अरुणाचल प्रदेश के प्रमुख उच्च संस्थानों (पूर्व में अरुणाचल विश्वविद्यालय) में से एक है। स्वर्गीय श्रीमती इंदिरा गांधी ने जो तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री व फरवरी 1984 को रोनो हिल्स पर विश्वविद्यालय की नींव रखी थी यही विश्वविद्यालय का वर्तमान कप विद्यमान है। आरंभ से ही राजीव गांधी विश्वविद्यालय श्रेष्ठता हासिल करने और उन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए प्रयासरत है जो

आरंभ से ही राजीव गाँधी विश्वविद्यालय श्रेष्ठता हासिल करने और उन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए प्रयासरत है जो विश्वविद्यालय अधिनियम में निहित है। 28 मार्च 1985 में विश्वविद्यालय को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा सेक्शन 2 (F) के अंतर्गत अकादमिक मान्यता प्रदान की गई।

26 मार्च, 1994 में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के सेक्शन 12.V के अंतर्गत इसे वित्तीय मान्यता मिली। तब से, राजीव गांधी विश्वविद्यालय ने देश के शैक्षिक परिदृश्य में (तत्कालीन अरुणाचल विश्वविद्यालय) अपना विशिष्ट स्थान बनाया है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा गठित विशेषज्ञों की एक उच्च स्तरीय समिति द्वारा देश के उन विश्वविद्यालयों में राजीव गांधी विश्वविद्यालय को भी चुना गया जिनमें श्रेष्ठता हासिल करने की संभावनाएं व सामर्थ्य है।

9 अप्रैल 2007 से विश्वविद्यालय को मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार की एक अधिसूचना के माध्यम से केंद्रीय विश्वविद्यालय का दर्जा दिया गया।

यह विश्वविद्यालय रोनो हिल्स की चोटी पर 302 एकड़ के विहंगम प्राकृतिक अंचल में स्थित है जहां से दिक्रोंग नदी का अदभुत दृश्य देखने को मिलता है। यह राष्ट्रीय राजमार्ग 52-A से 6.5 कि.मी . और राज्य की राजधानी ईटानगर से 25 किकी दूरी पर स्थित है। दिक्रोंग पुल के द्वारा कैंपस राष्ट्रीय राजमार्ग से जुड़ा .मी . हुआ है।

विश्वविद्यालय के शैक्षिक व शोध कार्यक्रम इस प्रकार तैयार किए गए है कि वे राज्य के सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक विकास में सकारात्मक भूमिका निभा सकें। विश्वविद्यालय स्नातक स्नातकोत्तर एमफिल व . एड का कोर्स भी चलाता है। .कार्यक्रम भी संचालित करता है। शिक्षा विभाग बी .डी .एच .पी

इस विश्वविद्यालय से 15 कॉलेज संबद्ध है। विश्वविद्यालय पड़ोसी राज्यों, विशेषकर असम के छात्रों को भी शैक्षिक सुविधाएं प्रदान कर रहा है। इसके विभिन्न विभागों व इससे जुड़े कॉलेजों में छात्रों की संख्या में निरंतर वृद्धि हो रही है।

यूजीसी व अन्य फडिंग एजेंसियों की वित्तीय सहायता से संकाय सदस्य भी शोध गतिविधियों में सक्रिय रूप से भाग ले रहे हैं। आरंभ से ही विभिन्न फडिंग एजेंसियों द्वारा विश्वविद्यालय के विभिन्न शोध प्रस्तावों को स्वीकृत किया गया है। विभिन्न विभागों ने अनेक कार्यशालाओं, संगोष्ठियों व सम्मेलनों का आयोजन भी किया है। अनेक संकाय सदस्यों ने देश व विदेश में आयोजित सम्मेलनों व संगोष्ठियों में भाग लिया है देशविदेश के -

प्रमुख विद्वानों व विशिष्ट व्यक्तियों ने1 विश्वविद्यालयों का दौरा किया है और अनेक विषयों पर अपने वक्तव्य भी प्रस्तुत किए है।

2000-2001 का अकादमिक वर्ष विश्वविद्यालय के लिए सुदृढीकरण का वर्ष रहा। वार्षिक परीक्षाओं से सेमेस्टर प्रणाली में परिवर्तन व्यवधानविहीन रहा और परिणामत छात्रों के प्रदर्शन में भी विशेष सुधार देखा गया बोर्ड ऑफ पोस्ट ग्रेजुएट स्टडीज़ द्वारा बनाए गए विभिन्न पाठ्यक्रमों को लागू किया गया यूजीसी इंफोनेट कार्यक्रम के तहत ERNET इंडिया द्वारा VSAT सुविधा प्रदान की गई ताकि इंटरनेट एक्सेस प्रदान की जा सके।

मूलभूत संरचनागत सीमाओं के बावजूद विश्वविद्यालय अकादमिक श्रेष्ठता बनाए रखने में सफल रहा है। विश्वविद्यालय अकादमिक कैलेंडर का अनुशासित रूप से पालन करता है परीक्षाएं समय पर संचालित की जाती है और परिणाम भी समय पर घोषित होते हैं विश्वविद्यालय के छात्रों को न केवल राज्य व केंद्रीय सरकार में नौकरी के अवसर प्राप्त हुए है बल्कि वे विभिन्न प्रतिष्ठित संस्थाओं उद्योगों व संस्थानों में नौकरी के अवसर प्राप्त करने में सफल रहे हैं। अनेक छात्र NET परीक्षाओं मैं भी सफल हुए हैं। अनेक छात्र परीक्षाओं में भी NET | सफल हुए हैं

आरंभ से अब तक विश्वविद्यालय ने शिक्षण, पाठ्यक्रम में नवीन परिवर्तन लाने व संरचनागत विकास में महत्वपूर्ण प्रगति की है |

आईडीई एक परिचय

हमारे देश में उम शिक्षा प्रणाली को सीमित सीटों सुविधाओं और बुनियादी संसाधनों की कमी के कारण अनेक सामना करना पड़ रहा है। विषयों से जुड़े शिक्षाविद मानते है कि शिक्षा की प्रणाली से अधिक महत्वपूर्ण और जानना है। दूरस्थ शिक्षा प्रणाली इन सभी बुनियादी समस्याओं और समाजिकआर्थिक बाधाओं को दूर करने का - यह प्रणाली ऐसे लाखों लोगों की गुणवत्ता युक्त शिक्षा पाने की मांग की पूर्ति कर रही है जो अपनी रखना चाहते है मगर नियमित रूप महाविद्यालयों में प्रवेश नहीं ले पाते। यह प्रणाली उच्च शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले बेरोजगार कार्यरत पुरुष और महिलाओं के लिए भी मददगार सिद्ध होती है। दूरस्थ शिक्षा प्रणाली उन लोगों के लिए भी उपयुक्त माध्यम है जो सामाजिक, आर्थिक अथवा अन्य कारणों से शिक्षा और शिक्षण संस्थानों से दूर हो गए या समय नही निकाल पाये। हमारा मुख्य उद्देश्य उन लोगों को उच्च शिक्षा की सुविधाएं प्रदान करना है जो मान्यता प्राप्त विश्वविद्यालय नियमित तथा व्यावसायिक शैक्षिक पाठ्यक्रमों में प्रवेश नहीं ले पाते विशेषकर अरुणाचल प्रदेश के ग्रामीण व भौगोलिक रूप से दूरदराज स्थित क्षेत्रों में व सामान्यतया उत्तरपूर्वी - भारत के दूरस्थ स्थित क्षेत्रों में रान2008 में दूरस्थ शिक्षा केंद्र का नाम परिवर्तित कर दूरस्थ शिक्षा संस्थान रखा गया दूरस्थ शिक्षार्थियों के लिए शिक्षा के अवसरों का विस्तार करने के प्रयास जारी रखते हुए (आईटीई) आईडीई ने2013-14 के शैक्षणिक सत्र में पांच स्नातकोत्तर विषयों शिक्षा अंग्रेजी), हिंदी, इतिहास और राजनीति विज्ञानको शामिल किया है।

दूरस्थ शिक्षा संस्थान में विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के पास ही शारीरिक विज्ञान संकाय भवन पहली मंजिल का निर्माण किया गया है। विश्वविद्याल)य परिसर राष्ट्रीय राजमार्ग 52 ए के एनईआरआईएसटी बिंदु से 6 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। विश्वविद्यालय की बसें एनईआरआईएसटी के लिए नियमित रूप से चलती रहती है।

दूरस्थ शिक्षा संस्थान की अन्य विशेषताएं

.1 **नियमित माध्यम के समकक्ष**-पात्रता, अर्हताएं, पाठ्यचर्या सामग्री, परीक्षाओं का माध्यम और डिग्री राजीव गांधी विश्वविद्यालय और विश्वविद्यालय के विभागों के समकक्ष हैं।

2. **स्वयं शिक्षण अध्ययन सामग्री -(एसआईएसएम)**छात्रों को संस्थान द्वारा तैयार और दूरत्व शिक्षा परिषद नई दिल्ली द्वारा अनुमोदित स्वय (डीईसी)ं शिक्षण अध्ययन सामग्री प्रदान की जाती है। यह सामग्री प्रदेश के समय आईडीई और अध्ययन केंद्रों में उपलब्ध कराई जाती है। यह सामग्री हिंदी विषय के अलावा सभी विषयों में अंग्रेजी में ही उपलब्ध कराई जाती है।

3. **संपर्क और परामर्श कार्यक्रम (सीसीपी)** कार्यक्रम के प्रत्येक पाठ्यक्रम में व्यक्तिगत संपर्क द्वारा लगभग 7-15 दिनों की अवधि का परामर्श शामिल है। बीपाठ्यक्रमों हालांकि व्यावसायिक पाठ्यक्रमों और .ए. के लिए सीसीपी में उपस्थिति अनिवार्य होगी। .ए के लिए सीसीपी अनिवार्य नहीं है।. एम

.4 **फील्ड प्रशिक्षण और प्रोजेक्ट** -व्यावसायिक पाठ्क्रमों में फील्ड प्रशिक्षण और संबंधित विषय में प्रोजेक्ट लेखन का आवश्यक प्रावधान होगा।

5. **परीक्षा एवं निर्देश का माध्यम** -परीक्षा और शिक्षा का माध्यम उन विषयों को छोड़कर जिनमें संबंधित भाषा में लिखने की जरूरत हो, अंग्रेजी होगा।

6. **विषय परामर्श संयोजक** -पाठ्य सामग्री को तैयार करने के लिए आईडीई विश्वविद्यालय के अंदर और बाहर विषय समन्वयकों की नियुक्ति करती है। विश्वविद्यालय द्वारा नियुक्त परामर्श समन्वयक पीसीसीपी के अनुदेशों को प्रभावी रूप से लागू करने के लिए विश्वविद्यालय के विभिन्न विभागों से जुड़े रहते हैं ये परामर्श समन्वयक परामर्श कार्यक्रम के सुचारु रूप से संचालन तथा विद्यार्थियों के एसाइनमेंट्स का मूल्यांकन करने के लिए संबंधित व्यक्तियों से संपर्क कर आवश्यक समन्वय करते हैं। विद्यार्थी भी इन परामर्श समन्वयकों से संपर्क कर अपने विषय से संबंधित परेशानियों और शंकाओं का समाधान प्राप्त कर सकते हैं।

SYLLABI-BOOK MAPPING TABLE

'भारतीय काव्यशास्त्र एवं भाषा विज्ञान – I'

Syllabi- BAHIN-302	Mapping in Book
इकाई : 1 परिचय ; काव्यशास्त्र उद्भव एवं विकास ; काव्य लक्षण ; काव्य – हेतु	**इकाई 1: I – काव्यशास्त्र**
इकाई 2 : परिचय ; रस अवधारणा एवं अलौकिकत्व :; रस की परिभाषा एवं स्वरुप ; सभी रसों का सामान्य परिचय	**इकाई 2: I – काव्यशास्त्र**
इकाई : 3 परिचय ; छंद; छंद की अवधारणा ; छंद के अवयव एवं मात्रा की स्थिति ; कविता में छंद का स्थान ; दोहा ,सोरठा , कुंडलिया तथा सवैया छंदों के ,बरवै ,रोला ,गीतिका ,चौपाई लक्षण और उदाहरण	**इकाई 3: काव्यशास्त्र I –**
इकाई : 4 परिचय ; भाषा की परिभाषा एवं विशेषताएं ; भाषा की परिभाषाएं ; भाषा की विशेषताएं ; भाषा के विविध रूप एवं प्रकार ; आधुनिक हिंदी भाषा का उद्भव एवं विकास ; पुरानी हिंदी का स्वरुप ; भाषा और बोली में अंतर	**इकाई 4: भाषा हिंदी भाषा तथा देवनागरी , लिपि I –**
इकाई : 5 परिचय ; भाषा विज्ञान परिभाषा क्षेत्र एवं आबय विषयों : से संबंध; भाषा विज्ञान की परिभाषाएं एवं क्षेत्र ; भाषा विज्ञान का अन्य विषयों से सम्बन्ध ; भाषा विज्ञान कि शाखाओं का परिचय ;वर्णात्मक, ऐतिहासिक, तुलनात्मक	**इकाई 5: I – भाषा विज्ञान**

विषय-सूची

परिचय

इकाई 1 : काव्यशास्त्र – I

1.0 परिचय

1.1 काव्यशास्त्र उद्भव एवं विकास

1.2 काव्य लक्षण

1.3 काव्य – हेतु

इकाई 2 : काव्यशास्त्र – I

2.0 परिचय

2.1 रस : अवधारणा एवं अलौकिकत्व

2.2 रस की परिभाषा एवं स्वरुप

2.3 सभी रसों का सामान्य परिचय

इकाई 3 : काव्यशास्त्र – I

3.0 परिचय

3.1 छंद

3.2 छंद की अवधारणा

3.3 छंद के अवयव एवं मात्रा की स्थिति

3.4 कविता में छंद का स्थान

3.5 दोहा, सोरठा, चौपाई, गीतिका, रोला, बरवै, कुंडलिया तथा सवैया छंदों के लक्षण और उदाहरण

इकाई 4 : भाषा, हिंदी भाषा तथा देवनागरी लिपि – I

4.0 परिचय

4.1 भाषा की परिभाषा एवं विशेषताएं

4.1.1 भाषा की परिभाषाएं

4.1.2 भाषा की विशेषताएं

4.1.3 भाषा के विविध रूप एवं प्रकार

4.1.4 आधुनिक हिंदी भाषा का उद्भव एवं विकास

4.1.5 पुरानी हिंदी का स्वरुप

4.2 भाषा और बोली में अंतर

इकाई 5 : भाषा विज्ञान – I

5.0 परिचय

5.1 भाषा विज्ञान : परिभाषा क्षेत्र एवं आबय विषयों से संबंध

5.1.1 भाषा विज्ञान की परिभाषाएं एवं क्षेत्र

5.1.2 भाषा विज्ञान का अन्य विषयों से सम्बन्ध

5.2 भाषा विज्ञान कि शाखाओं का परिचय

5.2.1 वर्णात्मक

5.2.2 ऐतिहासिक

5.2.3 तुलनात्मक

1.0 परिचय

संस्कृत काव्यशास्त्र ही मूलतः भारतीय काव्यशास्त्र है क्योंकि संस्कृत काव्यशास्त्र के पश्चात रीतिकालीन काव्यशास्त्र हो या हिंदी काव्यशास्त्र, उनमें संस्कृत काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों की परंपरा ही निरंतर प्रवाहित होती रही है। रीतिकालीन या हिंदी काव्यशास्त्रियों ने किसी नए सिद्धांत की स्थापना नहीं की। अतः भारतीय काव्यशास्त्र कहने का तात्पर्य संस्कृत काव्यशास्त्र ही है।

भारतीय काव्यशास्त्र काव्य का मेरुदंड है। काव्य के दृश्य और श्रव्य दो भेद हैं। इनमें श्रव्य को भी दो भागों में बांटा गया है–गद्य और पद्य। चूंकि पद्य काव्य ही काव्य के लक्षणों को विशेष रूप से धारण किए रहता है अतः काव्यशास्त्रियों ने इसे ही विवेचन का विषय चुना और माना। श्रेष्ठ काव्य की रचना के लिए काव्यशास्त्र का अध्ययन आवश्यक है। काव्य रचना के लिए परिपक्व और स्वस्थ भाषा शैली, अभिव्यक्ति का कौशल और सौंदर्य, शब्दों का चयन और इन सबका सुंदर संतुलन, औचित्य विचार आदि का विवेक और सामर्थ्य ये सब काव्यशास्त्र के अध्ययन से ही प्राप्त होते हैं।

काव्य के सौंदर्य और प्रभाव को परखने के लिए काव्यशास्त्र का अध्ययन किया जाता है। काव्यशास्त्र को कई नाम दिए गए। विजयेंद्र स्नातक 'हिंदी काव्यशास्त्र की परंपरा' की भूमिका में कहते हैं–"यदि संपूर्ण वांङ्मय का इस संदर्भ में अनुशीलन किया जाए तो काव्यशास्त्र के लिए मुख्यतः पांच शब्दों का प्रयोग होता है। ये पांच शब्द हैं–काव्यशास्त्र, काव्यालंकार, अलंकारशास्त्र, साहित्यशास्त्र और क्रियाकलाप। इन पांचों में अलंकार शब्द का प्रयोग प्राचीनतम है।" इन पांचों नामों में से काव्यशास्त्र नाम को ही सटीक मानते हुए

डॉ. भगीरथ मिश्र 'हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास' में कहते हैं–"अलंकार शास्त्र से अलंकार के विशेष विवेचन का ही अभिप्राय निकलता है। काव्य के स्वरूप और उसकी समस्याओं पर विचार करने वाले विषय को काव्यशास्त्र ही कहना विशेष उपयुक्त है क्योंकि इसके अंतर्गत अलंकारों के अतिरिक्त अन्य विषय भी समाविष्ट रहते हैं। आजकल साहित्य और काव्य के अर्थों में व्यापकता की दृष्टि से कुछ अंतर है। साहित्य शब्द को बहुधा हम शास्त्रीय, वैज्ञानिक एवं रमणीय सभी प्रकार की रचनाओं के लिए प्रयुक्त करते हैं। अत: साहित्य शास्त्र से काव्यशास्त्र शब्द हमारे उद्देश्य की पूर्ति अधिक स्पष्टता के साथ करता है।"

काव्यशास्त्र के पांच नामों में से साहित्य शास्त्र और अलंकार शास्त्र सर्वाधिक प्रचलित रहे। संस्कृत की काव्यशास्त्र परंपरा के आचार्यों जैसे– भामह, उद्भट, रुद्रट, वामन आदि ने अपने ग्रंथों के नामकरण में अलंकार शब्द को प्रमुखता दी। किसी ने 'काव्यालंकार', किसी ने 'सौंदर्यालंकार', किसी ने 'अलंकार सर्वस्व' नाम से अपने ग्रंथ का नामकरण किया। इसी तरह 'साहित्य-मीमांसा', 'साहित्य दर्पण', 'साहित्य-विद्या' आदि नामकरण भी चर्चित हुए। पंडित विश्वनाथ ने अपने सुप्रसिद्ध और महत्वपूर्ण ग्रंथ का नाम 'साहित्य दर्पण' रखकर साहित्य शब्द को प्रतिष्ठा दिलाई किंतु परवर्ती काल में आचार्य मम्मट द्वारा स्थापित 'काव्यशास्त्र' शब्द ही प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध हुआ।

इस इकाई में हम काव्यशास्त्र के उद्भव-विकास पर दृष्टिपात करते हुए काव्य लक्षण, काव्य प्रयोजन एवं काव्य के गुण-दोषों की विवेचना करेंगे।

1.1 इकाई के उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप-

- काव्य के उद्भव एवं विकास से परिचित हो पाएंगे;
- काव्य लक्षण की विवेचना कर पाएंगे;
- काव्य के हेतु को समझ पाएंगे;
- काव्य प्रयोजन का विश्लेषण कर पाएंगे;
- काव्य के गुणों से अवगत हो पाएंगे;
- काव्य के प्रमुख दोषों का अवलोकन कर पाएंगे।

1.2 काव्यशास्त्र उद्भव एवं विकास

काव्यशास्त्र काव्य के स्वरूप और उसकी समस्याओं पर विचार करता है। काव्य रचना के लिए जिस अनिवार्य अनुशासन की आवश्यकता होती है, भारतीय काव्यशास्त्र उसका निर्धारण करता है। राममूर्ति त्रिपाठी कहते हैं, "काव्य के शास्त्र से अभिप्राय उसके शासन से है–नियम विधान से है। शास्त्र इसलिए शास्त्र माना जाता है कि वह शासन करता है, कवियों को निरंकुश होने से रोकता है। काव्य का अनुशासन ही काव्य का शास्त्र है।" वाग्भट्ट 'काव्यानुशासन' की चर्चा

करते हैं, दशरूपककार धनंजय भी अनुशासन का ही समर्थन करते हैं जबकि महाभाष्यकार पतंजलि वैयाकरण होने के नाते 'शब्दशासन' की बात करते हैं। अनुशासनहीनता काव्य में अनौचित्य को जन्म देती है तथा अनौचित्य से बड़ा 'रसभंग' का दूसरा कारण नहीं होता। औचित्य निबंधन ही रस के परम समीप ले जाता है। आनंदवर्धन कहते हैं–

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबंधस्तु रसस्योपनिषत् परा॥

क्षेमेंद्र कहते हैं–'औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।'

औचित्य रसयुक्त काव्य को स्थिर जीवन शक्ति प्रदान करता है। औचित्य के बिना काव्य में रस निष्पत्ति संभव नहीं है। औचित्य का आकलन करना काव्य को अनुशासित करने की प्रक्रिया है। विजयेंद्र स्नातक कहते हैं–'काव्य के साथ शास्त्र शब्द जुड़ने से सामान्यतः शास्त्र शब्द का 'शासनात् शास्त्रम्' अर्थ होता है अर्थात जो काव्य का शासन करे, वह काव्यशास्त्र है, किंतु काव्य शासन नहीं करता। विधि-निषेध की सीमाओं में काव्य को बांधा नहीं जा सकता। अतः शास्त्र शब्द का दूसरा अर्थ–'शंसनात् शास्त्रम्' अर्थात विषय प्रतिपादन करने वाला, यह अर्थ इस संदर्भ में समीचीन प्रतीत होता है।' काव्यशास्त्र के समुचित ज्ञान के बिना काव्य का गंभीर अनुशीलन असंभव है।

काव्यशास्त्र के अध्येतव्य विषय

आचार्य राजशेखर ने 'काव्य-मीमांसा' में लिखा है–**इह हि वाङ्मयमुभयथा शास्त्रं काव्यं च। शास्त्र पूर्वकत्वात् काव्यानां पूर्व शास्त्रेष्वभिनिविशेषः नह्यप्रवर्तितप्रदीपास्ते तत्वार्थमसामर्थ्यध्यक्षयन्ति।** अर्थात शास्त्र और काव्य इन भेदों से वाङ्मय दो प्रकार का है। काव्य ज्ञान के लिए शास्त्र आवश्यक है। जैसे बिना दीपक के पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार शास्त्र ज्ञान के बिना काव्य ज्ञान असंभव है। अतः काव्य से पहले शास्त्र का अध्यास करना आवश्यक है।' काव्यशास्त्र में काव्य के स्वरूप और समस्याओं के साथ-साथ अलंकारों तथा काव्य से संबंधित अन्य विषयों का भी अध्ययन किया जाता है।

काव्य आत्मा की कला है। भारतीय काव्यशास्त्रियों एवं संस्कृत के आचार्यों की यह जिज्ञासा थी, उत्कंठा थी कि काव्य में ऐसा कौन सा प्रभावी तत्व है, सार तत्व है जिसके कारण लोग काव्य की ओर आकर्षित होते हैं, जिसके कारण सहृदय झूम उठते हैं, जिसका प्रभाव हृदय पर अंकित हो जाता है? इस जिज्ञासा, उत्कंठा को शांत करने के लिए काव्य की आत्मा खोजने और उसकी उत्कृष्टता का रहस्य जानने की प्रक्रिया में काव्यशास्त्र के विभिन्न सिद्धांतों और संप्रदायों का जन्म और विकास हुआ। जिस प्रकार दर्शनशास्त्री आत्म-तत्व को जानने की प्रक्रिया में स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्मता तक पहुंचते हैं उसी प्रकार काव्यशास्त्र के अध्येता, आचार्यगण काव्य के बाह्य शारीरिक धर्म यानी अलंकार और भीतरी आत्मिक धर्म यानी रस के बीच यात्रा, तर्क-वितर्क, विवेचन करते रहे और इस तरह पांच संप्रदाय विकसित और प्रतिष्ठित हुए। 'रस' से बात आरंभ हुई। भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में कहा– 'विभावानुभावव्यभिचारी-सयोंगाद्रसनिष्पत्तिः।' रस ही काव्य की आत्मा है, ऐसा मानने वाले आचार्यों के साथ 'अलंकार' को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्यों की संख्या भी बहुत

अधिक थी। दंडी ने 'काव्यादर्श' में कहा– 'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।' रीति को काव्य की आत्मा मानने वाले, रीति-सिद्धांत को प्रतिष्ठित करने वाले आचार्य वामन ने कहा–'रीतिरात्मा काव्यस्य'। आचार्य कुंतक ने कहा–'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' अर्थात वक्रोक्ति ही काव्य का जीवन है। आचार्य आनंदवर्धन ने 'ध्वनि' को काव्य की आत्मा घोषित करते हुए कहा–'काव्यस्यात्मा ध्वनिरितिबुधैः यः समाम्नात् पूर्वम्।' इन पांच प्रतिष्ठित संप्रदायों के बाद दो सिद्धांत और विकसित हुए– 'औचित्य' और 'चमत्कार'। क्षेमेंद्र ने 'औचित्य विचार' चर्चा में कहा– "औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।" और विश्वेश्वर कविचंद्र ने 'चमत्कार चंद्रिका' में कहा–

"चमत्कारस्तु चित्तुषामानन्दपरिवाहकृत्।
गुणं रीतिं रसं वृत्तिं पाकशय्यामलङ्कृतिम्॥"

इस तरह सात सिद्धांतों का विकास हुआ। इनमें से छह सिद्धांतों (रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य) ने संप्रदाय का रूप धारण कर लिया किंतु सातवां 'चमत्कार' केवल सिद्धांत रूप में ही प्रचलित है।

काव्यशास्त्र की सुदीर्घ परंपरा

काव्यशास्त्र का उद्‌भव संस्कृति साहित्य के उद्‌भव के साथ हुआ। संस्कृत काव्यशास्त्र की सैद्धांतिक धारणाएं गहन, गंभीर और व्यापक हैं। काव्यशास्त्र के किसी भी पहलू, किसी भी स्तर, किसी भी तत्व या कोण का अध्ययन करना हो, संस्कृत काव्य शास्त्र हर दृष्टि से महत्वपूर्ण, उपयोगी, सक्षम और समर्थ है। विभिन्न आचार्यों ने अपने मतों को स्थापित किया और उनके परवर्ती आचार्यों ने उनके मतों का बड़ी शालीनता से खंडन करते हुए अपने एक नवीन मत को स्थापित किया।

संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य भरतमुनि और उनके ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' को काव्यशास्त्र की परंपराओं में प्रथम ग्रंथ स्वीकार किया गया है जो रसवाद की प्रतिष्ठा करता है। भरत के नाट्यशास्त्र में पूर्ववर्ती कवियों और रचनाकारों का उल्लेख है अतः यह माना जाता है कि काव्यशास्त्र पर चर्चा, तर्क-वितर्क ईसवी सन् से कई शताब्दियों पूर्व आरंभ हो गए थे, लेकिन रसवादी आचार्य नंदिकेश्वर के ग्रंथ 'अभिनवदर्पण' के अलावा और कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है।

भरत के 'नाट्यशास्त्र' और राजशेखर के 'काव्य-मीमांसा' में 'अभिनवदर्पण' के रचयिता नंदिकेश्वर का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त भरत, राजशेखर, शारदातनय, अभिनवगुप्त द्वारा लगभग 27 रचनाकारों का उल्लेख है। परवर्ती काल में 'अग्नि पुराण', 'विष्णुधर्मोत्तर' उपपुराण में भी रस, नृत्य और नाटकों का उल्लेख मिलता है।

पी.वी. काणे ने 'संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास' में इस पर विस्तार से लिखा है। रस परंपरा का आरंभ ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के अभिचार मंत्रों, वाल्मीकि रामायण, महाभारत आदि से भी माने जाने का उल्लेख कुछ आचार्यों ने किया है किंतु काव्यशास्त्र की दृष्टि से प्रामाणिक ग्रंथ भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र' ही है। अतः रसवादी आचार्य भरतमुनि के साथ ही काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों की परंपरा प्रतिष्ठित हुई। भरत के पश्चात अनेक आचार्यों ने अपने-अपने महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे और अपने-अपने मतों को स्थापित किया; जैसे– भामह का

'काव्यालंकार', आनंदवर्धन का 'ध्वन्यालोक', दंडी का 'काव्यादर्श', वामन का 'अलंकार सूत्र', रुद्रट का 'काव्यालंकार', राजशेखर की 'काव्य मीमांसा' कुंतक का 'वक्रोक्ति जीवितम्', धनंजय का 'दशरूपक', भोज का 'सरस्वतीकंठाभरण' और 'शृंगारप्रकाश', मम्मट का 'काव्यप्रकाश', पंडित विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण', पंडितराज जगन्नाथ का 'रसगंगाधर', जगदेव का 'चंद्रलोक' आदि। कुछ आचार्यों ने किसी एक सिद्धांत जैसे रस या अलंकार, रीति या वक्रोक्ति को लेकर रचना की तो अधिकांश ने अपने ग्रंथ में सभी सिद्धांतों की चर्चा करते हुए काव्यशास्त्र के किसी एक विषय पर विस्तार से प्रकाश डाला।

काव्य का स्वरूप, महत्व, गुण-दोष, उत्कृष्टता, शब्द-शक्ति आदि पर विचार प्रकट करते हुए प्रथम पांच सिद्धांतों रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि को मानने वाले लगभग सभी रचनाकारों ने औचित्य का समर्थन किया है। औचित्य का छठे मत के रूप में उल्लेख करते हुए आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी 'औचित्य विमर्श' में कहते हैं–"पांचों मतों के साथ मिलकर यह सिद्धांत काव्य-सिद्धांत की संख्या को छह तक पहुंचा देता है। कहीं-कहीं चमत्कारवाद का भी उल्लेख मिलता है। अतः यदि इसे भी जोड़ दिया जाए तो सब मिलकर सात हो जाते हैं।"

पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अपने ढंग से महामहोपाध्याय कुप्पूस्वामी द्वारा प्रस्तुत वृत्त की मनोरम व्याख्या करते हुए काव्य मतों की संख्या आठ तक (वाङ्मय विमर्श) पहुंचा दी है–चारुत्व प्रवाह में चार-वक्रोक्ति, रीति, गुण एवं अलंकार तथा इन सबको उदरस्थ कर जाने वाले अनुभूति प्रवाह में चार-औचित्य, रस, ध्वनि एवं अनुमान। इन आठों के साथ चमत्कारवाद को मिलाया जाए तो संख्या नव तक पहुंच जाएगी। यही नहीं 'अनुभूति सिद्धांत' की तरह ध्वनिविरोधी बारह पक्षों की चर्चा जयरथ ने अपनी विमर्शिनी नामक 'अलंकार सर्वस्व' की टीका में की है। इनमें से बहुत तो उपर्युक्त मतों एवं सिद्धांतों में ही अंतर्भुक्त हैं– तात्पर्यवाद की तरह कतिपय सिद्धांत और बढ़ जाएंगे।

काव्य के विविध स्वरूप

काव्यशास्त्र के विकास के साथ, काव्य विविध रूपों में सृजित हुआ और हो रहा है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है–

- **शैली की दृष्टि से काव्य के भेद**–शैली की दृष्टि से काव्य के तीन भेद होते हैं– (1) गद्य (2) पद्य (3) चंपू।

1. **गद्य**– शब्दाचार या व्याकरण के आधार पर की गई रचना को गद्य कहते हैं। इसके अंतर्गत अभिनय नाटक, उपन्यास, कहानी एवं आलोचनाएं इत्यादि आते हैं। गद्य की काव्यमय प्रस्तुति गद्यकाव्य कहलाती है। पद्य की अपेक्षा गद्यकाव्य में सफलता प्राप्त करना अधिक कठिन होता है। इसीलिए कहा भी है– 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति'–अर्थात गद्य काव्य कवियों की निकषं (कसौटी) है।
2. **पद्य**– पिंगलशास्त्र के नियमों से बद्ध रचना को पद्य कहते हैं। आधुनिक कविगण पिंगल के नियमों की उपेक्षा करके एक प्रकार के लयात्मक छन्दों (स्वच्छन्द छन्दों) की रचनाएं करने लगे हैं जिनमें लय का प्रधान्य होता है। हिंदी साहित्य में ऐसी रचनाएं भी पद्य के अंतर्गत समझी जाती हैं। पद्य के अंतर्गत सूक्तियां और कविताएं भी आती हैं, जिनके लक्षण और उदाहरण क्रमशः नीचे दिए गए हैं–

(क) **सूक्ति–** वह चमत्कार उत्पन्न करने वाली युक्ति, जिसमें वर्ण विन्यास की विशेषता से कथन को विशिष्ट ढंग से कहा जाता है, उसे 'सूक्ति' कहते हैं। यथा–

'रात्रिराज! सुकुमारशरीर! कः सहेत तव नाम मयूखान्।
स्पर्शमाप्य सहसैव यतीयम् चन्द्रकांतदृषदोपि गलंति॥ *–मंखक*

(ख) **कविता–** जिस उक्ति में ध्वनि या गुणीभूति व्यंग्य की प्रधानता होती है, उसे 'कविता' कहते हैं।

'आयासः परहिंसा वैतंसिक, सारमेय! तव सारः।
त्वामपसार्य विभाज्यः कुरंग एषोऽधुनैवान्यैः॥ *–गोवर्धनाचार्य*

इसके दो भेद हैं–(1) समास और (2) व्यास।

1. **समास–**जहां किसी विस्तृत बात का वर्णन घटाकर अत्यंत थोड़े में किया जाता है, वहां समास कविता होती है।
2. **व्यास–**जहां किसी थोड़ी सी बात का वर्णन अत्यंत बढ़ा-चढ़ा कर किया जाता है वहां व्यास कविता होती है।

3. **चंपू/मिश्रकाव्य–**'गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते।'

अर्थात ऐसी रचनाएं जो पद्य और गद्य दोनों में लिखी जाती हैं, उन्हें चंपू या मिश्रकाव्य कहते हैं।

• **स्वरूप की दृष्टि से भेद-** स्वरूप की दृष्टि से काव्य के दो भेद हैं–(क) दृश्य और (ख) श्रव्य।

(क) दृश्य काव्य

जिस काव्य की रसानुभूति केवल श्रवण या पठन मात्र से नहीं, परंतु अभिनयादि के देखने से होती है, उसे दृश्य काव्य कहते हैं। श्रव्य काव्य का रसास्वादन केवल पठित वर्ग ही कर सकता है, परंतु दृश्य-काव्य का रसास्वादन पठित और अपठित दोनों वर्ग कर सकते हैं। इसलिए इसे भरतमुनि ने पांचवां वेद कहा है–

"न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु।
तस्मात्सृजापरं वेदं पंचमं सर्ववर्णिकम्॥ (नाट्यशास्त्र–प्रथमोध्याय)

दृश्य काव्य के अंतर्गत रूपक और उपरूपक आते हैं, जिनमें से रूपक के 10 और उपरूपक के 18 भेद होते हैं।

रूपक के 10 भेद

1. **नाटक–**यह शब्द 'नट्' धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है 'अभिनय करना'। अधिकांश व्यक्ति 'नाटक' को 'रूपक' का पर्यायवाची शब्द समझते हैं, परंतु वास्तव में यह रूपक के 10 भेदों में से एक भेद है। 'रूपक' के 2 अर्थ हैं–'रूप धारण करना' और 'अभिनय करने योग्य वस्तु'। यदि हम रूपक का अर्थ 'रूप धारण

करना' लें तब भी वही भाव आता है। जब नायक और नायिका रंगभूमि पर विविध रूपों को धारण कर दर्शकों के मन को मोहते हैं, उसे रूपक कहते हैं।

2. **प्रकरण**–इसकी कथा लौकिक या कवि कल्पित होती है। इसका नायक द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) होता है। नायिका कोई श्रेष्ठकुल कन्या या वेश्या होती है। इसमें शृंगार रस प्रधान होता है। इसका एक भेद मद्यप (जुआरी और शराबी) विट चेटादि की चेष्टाओं से परिपूर्ण होता है। अन्य सब बातें नाटक के समान होती हैं।

3. **भाण**–इसकी कथा काल्पनिक होती है। इसमें एक ही अंक और एक ही पात्र होता है, वह भी कोई विट होता है। वह रंगमंच पर अपनी या औरों की अनुभूत बातों को कथोपकथन के रूप में स्वयं ही प्रश्न करता और उसका उत्तर देता हुआ दृष्टिगोचर होता है। इसमें केवल धूर्तों का ही चरित्र चित्रण किया जाता है।

4. **प्रहसन**–इसमें हास्य रस की प्रधानता होती है। इसका नायक कोई तपस्वी (झूठा) नपुंसक, कंचुकी या पुरोहित होता है। अन्य सब बातें 'भाण' के समान होती हैं।

5. **डिम**–इसकी कथा इतिहास प्रसिद्ध होती है। इसमें गंधर्व, यक्ष, सुर, असुर, भूत, प्रेत आदि अत्यंत उद्धत 16 नायक होते हैं। इसमें इंद्रजाल, संग्राम, क्रोध और भूत प्रेतादिकों की चेष्टाओं का वर्णन ज्यादा से ज्यादा 4 अंकों में किया जाता है। रौद्र रस प्रधान और अन्य रस उसके सहायक होते हैं।

6. **व्यायोग**–इसकी कथा लोक या पुराण प्रसिद्ध होती है। इसका नायक धीरोद्धत अथवा धीरोदात्त होता है। इसमें एक ही अंक होता है जिसमें वीर रस प्रधान होता है। इसमें स्त्री पात्रों का अभाव व पुरुष पात्रों की बहुलता होती है।

7. **समवकार**–इसकी कथा पुराण प्रसिद्ध होती है, जिसमें सुरासुरान्वित घटनाओं का वर्णन तीन अंकों में किया जाता है। इसमें बारह सुर, असुर आदि नायक होते हैं तथा वीर रस प्रधान रहता है। अन्य सब रस उसके सहायक होते हैं।

8. **वीथी**–इसमें शृंगार रस की प्रधानता रहती है। शेष सब बातें 'भाण' के ही समान होती हैं।

9. **ईहामृग**– इसकी कथावस्तु कुछ काल्पनिक और कुछ इतिहास प्रसिद्ध होती है। इसका नायक धीरोद्धत, मनुष्य या दिव्य (देवता) होता है। इसमें एक ही अंक होता है।

10. **अंक**–इसकी कथा लोक प्रसिद्ध होती है और नायक कोई साधारण व्यक्ति होता है। इसमें भी एक ही अंक होता है जिसमें स्त्रियों के करुण रुदन की अधिकता होने से करुण रस प्रधान होता है।

उपरूपक के 18 भेद

1. **नाटिका**–इसकी कथा लोक प्रसिद्ध होती है, नायक धीरललित कोई राजा, और नायिका राजवंश की कोई संगीतज्ञा कन्या होती है। इसमें चार अंक होते हैं, जिसमें कि अधिकांश पात्र स्त्रियां होती हैं।

2. **त्रोटक**–इसमें पांच से लेकर आठ या नौ तक अंक होते हैं और प्रत्येक अंक में विदूषक (नकलची) का कार्य होता है। शृंगार रस प्रधान होता है।

3. **गोष्ठी**–इसमें एक अंक होता है, जिसमें चार-पांच स्त्री पात्र और आठ-दस पुरुष पात्रों का कार्य वर्णित होता है। संभोग शृंगार रस की प्रधानता होती है।

4. **सट्टक**–इसके अंकों को 'जनबिका' कहते हैं, जिसमें अद्‌भुत रस की प्रधानता होती है। अन्य सब बातें 'नाटिका' के सदृश होती हैं। विशेष–यह केवल प्राकृत भाषा में ही लिखा जाता है।

5. **नाट्यरासक**–इसमें एक ही अंक होता है, जिसमें शृंगार मिश्रित हास्य रस की प्रधानता रहती है। इसका उपनायक नर्म सचिव या पीठमर्द होता है और नायिका वासकसज्जा (विविध शृंगारों से अलंकृत होकर पतिदेवता की प्रतीक्षा करने वाली) होती है।

6. **प्रस्थानक**–इसमें दो अंक होते हैं, नायक दास, उपनायक बलहीन व्यक्ति और नायिका दासी होती है।

7. **उल्लाप्य**–इसमें तीन अंक होते हैं, कथा अलौकिक, नायक धीरोदात्त तथा शृंगार, हास्य और करुण रस की प्रधानता रहती है।

8. **काव्य**–इसमें एक अंक होता है, जिसमें संगीत और हास्य रस की प्रचुरता रहती है।

9. **रासक**–इसमें एक अंक होता है, पांच पात्र होते हैं, पर सूत्रधार नहीं होता। नायिका प्रसिद्ध और नायक मूर्ख होता है। इसमें उदात्त भाव उत्तरोत्तर प्रदर्शित किया जाता है।

10. **प्रेक्षण**–इसमें एक अंक होता है, नायक बलहीन होता है और सूत्रधार नहीं होता। नान्दी तथा प्ररोचना नेपथ्य (पर्दे के पीछे से) से पढ़ी जाती है।

11. **संलापक**–इसमें चार अंक होते हैं और नायक धूर्त होता है। इसमें संग्रामादि का विशद वर्णन रहता है।

12. **श्रीगदित**–इसमें एक अंक होता है। नायक धीरोदात्त और नायिका लोक प्रसिद्ध होती है।

13. **शिल्पक**–इसमें चार अंक होते हैं और नायक ब्राह्मण होता है। इसमें श्मशान, प्रेतादि का वर्णन रहता है, जिसमें शांत और हास्य रस को छोड़कर शेष सब रस हो सकते हैं।

14. **विलासिका**–इसमें एक ही अंक होता है। नायक कोई विदूषक, विट या गुणहीन व्यक्ति होता है। शृंगार या हास्य रस का प्राधान्य रहता है।

15. **दुर्मल्लिका**–इसमें चार अंक होते हैं। पहले अंक में विट की क्रीड़ा, दूसरे में विदूषक का विलास, तीसरे में पीठमर्द या नर्मसचिव का विलास और चौथे में नागरिकों की क्रीड़ा रहती है। इन चारों अंकों का प्रदर्शन क्रमशः 6, 10, 12 और 20 घड़ी (1 घड़ी–24 मिनट) का रहता है।

16. **प्रकरणिका**–इसका नायक व्यापारी होता है और नायिका इसकी सजातीया होती है। इसकी कथा लोक प्रसिद्ध अथवा काल्पनिक होती है। इसमें शृंगार रस प्रधान होता है और नायक धर्म, अर्थ और काम में परायण धीर होता है। इसमें पांच अंक होते हैं।

17. **हल्लीश**–इसमें एक अंक होता है। पांच या छह स्त्री पात्र होते हैं और एक उदात्त नायक होता है। इसमें संगीत की अधिकता रहती है।

18. **भाणिका**–इसमें भी एक ही अंक होता है। नायक मूर्ख, नायिका उदात्त होती है।

(ख) श्रव्य काव्य

जिस काव्य का आनंद श्रवण करने या पठन करने से प्राप्त होता है, उसे श्रव्य काव्य कहते हैं। इसके दो भेद हैं–(अ) प्रबंध काव्य और (ब) मुक्तक काव्य।

(अ) प्रबंध काव्य–जिस काव्य की रचना प्राचीन कथा वस्तु के आधार पर की जाती है उसे प्रबंध काव्य कहते हैं। इसका प्रत्येक छन्द एक दूसरे से शृंखलित अथवा जुड़ा हुआ होता है। जैसे–मैथिलीशरण गुप्त लिखित–जयद्रथ-वध। इसके दो भेद हैं–(1) महाकाव्य और (2) खंड काव्य।

(1) महाकाव्य- प्रबंध काव्य के दो भेद हैं–महाकाव्य और खंडकाव्य। महाकाव्य बड़ा काव्य होता है। इसमें जीवन के अनेक रूपों की अभिव्यक्ति होती है। घटनाओं का बहुविध विस्तार होता है। यह बड़े महत्व की रचना होती है, जैसे नाटक के तीन प्रमुख तत्व होते हैं वैसे ही महाकाव्य के माने गए हैं और वे हैं–1. वस्तु, 2. नेता, 3. रस।

आचार्यों ने महाकाव्य के अनेक लक्षण बताए हैं। इनमें सबसे विस्तारपूर्वक वर्णन आचार्य विश्वनाथ ने अपने साहित्य दर्पण नामक ग्रंथ में किया है। उनके अनुसार महाकाव्य सर्गबद्ध रचना होती है। उसमें देवता, श्रेष्ठ वंश का क्षत्रिय नायक होता है। कहीं एक वंश के कुलीन अनेक राजा भी नायक होते हैं। शृंगार, वीर, शांत में से एक रस मुख्य होता है, आदि। इनका विस्तृत विवरण इस प्रकार है–

महाकाव्य के विश्वनाथ सम्मत लक्षण इस प्रकार हैं–

1. महाकाव्य एक बड़ा काव्य होता है। वह सर्गबद्ध रचना होती है। उसमें 8 से अधिक सर्ग होते हैं।
2. इसके प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग होता है। कहीं-कहीं सर्ग में अनेक छन्द भी होते हैं। सर्ग के अंत में छन्द भिन्न होता है और उसमें अगले सर्ग की कथा का संकेत होता है।
3. इसका एक नायक होता है। वह देवता या श्रेष्ठ वंश का क्षत्रिय होता है जिसमें प्रायः धीरोदात्त आदि गुण होते हैं। कहीं-कहीं एक वंश के तत्कुलीन अनेक राजा भी नायक होते हैं, जैसे–कालिदास के रघुवंश में हैं।
4. महाकाव्य में शृंगार, वीर और शांत रस में से एक रस अंगी होता है, शेष रस गौण होते हैं।

5. महाकाव्य में नाटक की सभी संधियां भी होती हैं, जैसे–मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अविमर्श, निर्वहण।
6. इसकी कथा लोकप्रसिद्ध सज्जन संबंधी या ऐतिहासिक कथा होनी चाहिए।
7. महाकाव्य की फल प्राप्ति में धर्म, अर्थ, काम अथवा मोक्ष की प्राप्ति का वर्णन होना चाहिए।
8. महाकाव्य के आरंभ में मंगलाचरण होना चाहिए जो नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक और वस्तु निर्देशात्मक हो सकता है।
9. इसमें सज्जनों की प्रशंसा और खलों की निंदा का भी वर्णन होना चाहिए, जैसे–तुलसीदास के रामचरितमानस में।
10. महाकाव्य में विस्तार होता है। उसमें विभिन्न वर्णन होते हैं। जैसे–संध्या, सूर्योदय व अस्त, चंद्रोदय, रात्रि, प्रदोष, अंधकार, वन, समुद्र, संग्राम, यात्रा, विवाह, संयोग, वियोग, मृगया, ऋतुएं आदि।
11. महाकाव्य का नामकरण कवि के नाम से या नायक के नाम से या चरित्र के नाम से किया जाता है।
12. सर्ग की वर्णनीय कथा के आधार पर सर्ग का नामकरण होता है।

महाकाव्यों की परंपरा संस्कृत साहित्य से देखने में आती है। वाल्मीकि रामायण और महाभारत भी संस्कृत के महाकाव्य माने जाते हैं। प्रायः कालिदास के रघुवंश और कुमारसंभव, भारवि का किरातार्जुनीय, माघ का शिशुपालवध श्रेष्ठ महाकाव्य माने गए हैं। हिंदी में चंदवरदाई का पृथ्वीराज रासो, जायसी का पद्मावत, तुलसी का रामचरितमानस, केशव की रामचंद्रिका, मैथिलीशरण गुप्त का साकेत, जयशंकर प्रसाद की कामायनी, हरिऔध का प्रिय-प्रवास श्रेष्ठ महाकाव्य हैं।

(2) खंड काव्य- प्रबंध काव्य के दो भेदों में से दूसरा खंड काव्य है। प्रबंध काव्य होने के कारण इसमें कथा चलती है। एक छन्द का दूसरे छन्द के साथ पूर्वापर संबंध होता है। इसमें भी कथा का सर्गों में विभाजन रहता है। इसके भी प्रायः वे ही प्रमुख तत्व होते हैं जो महाकाव्य के होते हैं। परंतु महाकाव्य से खंड काव्य अनेक मायनों में भिन्न होता है। साहित्य दर्पणकार ने उसका लक्षण बताते हुए कहा है कि काव्य के एक अंश का अनुसरण करने वाला खंड काव्य होता है। इसका तात्पर्य यह है कि खंड काव्य में किसी एक प्रधान घटना का वर्णन होता है। उसमें जीवन के किसी एक पक्ष को लेकर कथा चलती है। विद्वानों ने खंड काव्य के स्वरूप पर साहित्य दर्पणकार के संकेत से आगे बढ़कर विचार किया है। उनकी दृष्टि में खंड काव्य का स्वरूप एक लघु कथा के रूप में होता है और वह लघु कथा जीवन के विभिन्न पक्षों को न छूती हुई कथा नायक के चरित्र को विकसित करती है। संक्षेप में खंड काव्य में चार बातें मुख्य रूप से होनी चाहिए–

1. खंड काव्य एक लघु कथा काव्य होता है।
2. उसमें जीवन की विविधता नहीं रहती।

3. उसमें घटनाओं की बहुलता नहीं होती।

4. खंड काव्य चरित्र-प्रधान न होकर घटना-प्रधान काव्य होता है।

इस तरह महाकाव्य में जीवन के अनेक अंशों का समूचा चित्र होता है पर खंड काव्य में जीवन के एक ही अंश का चित्रण होता है। महाकाव्य में प्रधान पात्र या घटनाओं का विशिष्ट महत्व होता है परंतु गौण पात्र और सहायक घटनाएं भी अपना मूल्य रखती हैं। खंड काव्य में प्रधान पात्र या घटना का ही महत्व होता है। जैसे तुलसी के 'रामचरितमानस' में राम के जीवन की समग्रता है परंतु मैथिलीशरण गुप्त के 'पंचवटी' काव्य में शूर्पनखा के नाक काटने की एक घटना है। 'रामचरितमानस' महाकाव्य है और 'पंचवटी' खंड काव्य है। हिंदी में बहुत से खंड काव्य लिखे गए हैं। कुछ लोग तुलसीदास के 'जानकी मंगल', 'पार्वती मंगल' काव्यों को और नंददास के 'भंवरगीत' को भी खंड काव्य मानते हैं। वस्तुतः नरोत्तम दास का 'सुदामा चरित', मैथिलीशरण गुप्त के 'जयद्रथवध', 'नहुष' और रामनरेश त्रिपाठी के 'पथिक', 'मिलन' तथा 'स्वप्न' हिंदी के अच्छे खंड काव्य हैं।

(ब) मुक्तक काव्य– मुक्तक काव्य ऐसे पद्यों का समूह होता है जो पूर्वापर संबंध से मुक्त होते हैं। उसके छन्द तक एक-दूसरे से निरपेक्ष होते हैं। आचार्यों ने मुक्तक का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि छन्द में लिखे गए काव्य को पद्य कहते हैं। यदि वह मुक्त यानी दूसरे पद्य से निरपेक्ष हो तो उसे मुक्तक कहते हैं। इसी को दूसरे शब्दों में यों भी कहा गया है कि जो अन्य पद्यों के संबंध से मुक्त हो वह मुक्त कहलाता है–अन्यैः मुक्तम् इति मुक्तकम्। मुक्तक काव्यों के कुछ संग्रह ऐसे भी होते हैं जिनमें हल्का सा कथा सूत्र भी रहता है। सूरदास का 'सूरसागर' और तुलसीदास की 'गीतावली' ऐसी ही रचनाएं हैं, फिर भी उनमें छन्द अपने आप में स्वतः पूर्ण और मुक्त हैं। एक छन्द दूसरे छन्द की अपेक्षा नहीं रखता।

यहां पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि पूर्वापर संबंध से निरपेक्ष रहते हुए भी विभिन्न छन्दों का कोई संग्रह मुक्तक काव्य नहीं कहला सकता। उसमें काव्य का सार भूत तत्व यानी रस रहना चाहिए। इसलिए आचार्य अभिनव गुप्त ने कहा है कि पूर्वापर निरपेक्ष होते हुए भी जिसके द्वारा रस की अनुभूति कराई जाती हो वही मुक्तक कहलाएगा। पाश्चात्य विद्वानों ने मुक्तक काव्य को 'स्वानुभूति निरूपक' कहा है। इसमें कवि की सुख, दुख, हर्ष, विषाद आदि की अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति होती है। इसमें कवि दूसरों के जीवन और जगत की बात न कहकर अपने मन की बात कहता है। इसे ही 'विषयीप्रधान' भी कहते हैं इसमें अपने विषय यानी कवि के भावों को प्रधानता दी जाती है। संस्कृत में मुक्तक काव्यों की बड़ी समर्थ रचनाएं देखने में आती हैं। 'अमरूकशतक' मुक्तक काव्य की उच्च कोटि की रचना है।

मुक्तक काव्यों के दो प्रकार देखने में आते हैं–पाठ्य मुक्तक और गेय अथवा प्रगीत।

1. **पाठ्य मुक्तक–**मुक्तक काव्यों में से कुछ ऐसे होते हैं जिनमें कवि अपने ज्ञान और अनुभव के आधार पर नीति और उपदेशपरक उक्तियां कहता है। शृंगार विषयक, वीरता संबंधी और तरह-तरह की सूक्तियों के छन्द भी इसी प्रकार होते

क्षण,
ोजन
ोष

हैं। मुख्य बात यह होती है कि एक ही छन्द में चमत्कृत कर देने वाली या रोचक बात होती है। आचार्यों ने माना है कि कुछ कवि ऐसे हुए हैं जिनके द्वारा रचे गए मुक्तकों में प्रबंध काव्य के समान ही रस की अभिव्यक्ति की गई है। इस तरह के मुक्तक काव्यों में भर्तृहरि के तीनों शतक– 'शृंगार शतक', 'नीति शतक', 'वैराग्य शतक' और अमरूक का 'अमरूकशतक' आता है। हिंदी में कबीर के दोहे, रहीम के दोहे, वृंद के दोहे, गिरिधर की कुंडलियां ऐसे ही मुक्तक हैं। इन्हें पाठ्य मुक्तक कहा जाता है। वैसे पाठ्य मुक्तक और गेय मुक्तक की कोई बहुत मजबूत विभाजक रेखा नहीं है। बहुत से पाठ्य मुक्तक भी गेय हो सकते हैं। मुख्य बात यह है कि पाठ्य में विषय प्रधानता अधिक रहती है यानी पाठ्य में कवि अपने मन की बात न कहकर विभिन्न विषयों पर चमत्कारपूर्ण विचित्र बात कहता है। गेय में विषयी- प्रधानता है यानी विषयी (कवि) अपनी अनुभूति की बात कहता है, निजी अनुभूति की बात कहता है।

2. **गेय मुक्तक**- गेय या गीति मुक्तक ऐसे मुक्तक होते हैं जिनमें गीति तत्व प्रमुख होता है। कवि की निजी अनुभूति की अभिव्यक्तियां होती हैं। सुख-दुख के आवेश के अंदर से स्वयं फूटते हुए उद्‌गार होते हैं। ये अभिव्यक्तियां मर्म को छूने वाली होती हैं और इनमें संगीतात्मकता की प्रधानता रहती है। चित्त को पिघला देने वाले भाव करुण और शृंगार के अधिक माने गए हैं, वात्सल्य के भाव भी ऐसे ही हैं। इन सब भावों से संबंधित उद्‌गार अच्छे गीति मुक्तक बन जाते हैं। संक्षिप्तता, भावात्मकता, संगीतात्मकता अनुभूति की तीव्रता, कोमलकांत पदावली – ये गीति मुक्तक की सामान्य विशषताएं हैं। संस्कृत में जयदेव का गीतिगोविंद, गीतिमुक्तक का अच्छा उदाहरण है। विद्यापति की पदावली, कबीर, सूर, मीरा के पद, महादेवी वर्मा के गीत इसी तरह के गेय मुक्तक हैं।

महाप्रबंध को हम निम्नांकित कोटियों में भी रख सकते हैं–

पुराण

इनमें पुराण, प्रागैतिहासिक घटनाओं का विभिन्न युगों और कल्पों के क्रम में किसी विशेष उद्देश्य के प्रतिपादन अथवा शिक्षा के प्रचार के लिए अनेक चमत्कारी घटनाओं से युक्त चित्रण करने वाला विशालकाय महाप्रबंध होता है। पुराण का विशेष विकास संस्कृत साहित्य में हुआ और हिंदी में भी उनके आधार पर स्वतंत्र रूप में अथवा अनुवाद के रूप में पुराणों की रचना हुई। पुराण काव्य की मुख्य विशेषताओं को हम निम्नलिखित रूप में देख सकते हैं–

1. इसमें ईश्वर के एक या अनेक अवतारों का तथा अवतारी पुरुषों, महात्माओं और संबद्ध ऋषि-मुनियों की कथाओं का इस प्रकार वर्णन होता है जिससे ईश्वरीय सत्ता के ऐश्वर्य का प्रतिपादन होता है।
2. इसके अंतर्गत सत्य अथवा ईश्वर-भक्ति की महिमा सिद्ध करने के लिए सज्जनों और सद्‌वृत्तियों की विजय तथा दुर्जनों तथा दुर्वृत्तियों की पराजय के द्वारा समाज में सद्‌गुणों की प्रतिष्ठा की जाती है।

3. पुराण की कथा में सृष्टि के प्रारंभ, विकास और प्रलय का वर्णन होता है और कथा का सूत्र युग-युगांतर व्यापी रहता है।

4. पुराण अनेक स्कंधों में विभाजित होते हैं, जिसके एक-एक स्कंध में अनेक अध्याय होते हैं।

5. पुराण में प्रायः किसी शंका या प्रश्न को उठाकर शंका-निवारण या प्रश्न के उत्तर स्वरूप विभिन्न आख्यानों का विकास होता है, जिनके द्वारा किसी सिद्धांत का प्रतिपादन और दैवीय ऐश्वर्य की महत्ता सिद्ध की जाती है।

6. इसमें विभिन्न कल्पों, मन्वंतरों और युगों में उत्पन्न हुए राजाओं और उनके देशों का विस्तार से वर्णन रहता है।

7. पुराण में प्रायः प्रत्येक अध्याय के अंत में पुराण के माहात्म्य का अनुकथन रहता है।

8. पुराण के बीच में वर्णन के साथ-साथ वार्तालाप भी रहता है और इस प्रकार भावुकता और विस्तार के साथ विभिन्न शंकाओं का समाधान करते हुए अनेक अलौकिक और आश्चर्यजनक कृत्यों के वर्णन द्वारा जीवन की उपयोगी शिक्षाओं को प्रस्तुत करते हुए पुराण की रोचक रचना की जाती है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि पुराण इतिहास और काव्य का मिश्रित, किंतु अत्यंत विस्तृत स्वरूप है, जिसका मुख्य उद्देश्य किसी सिद्धांत का प्रतिपादन या महिमा का स्पष्टीकरण होता है।

आख्यान

आख्यान भी एक विस्तृत प्रबंध काव्य होता है। इसका कथानक प्रायः काल्पनिक या मिश्रित रहता है। उस कथानक के नायक से संबंधित जीवन वृत्त और घटनाओं का अत्यंत रोचक और चमत्कारी ढंग से इसमें वर्णन किया जाता है। यद्यपि यह पुराण सा विस्तृत नहीं रहता, लेकिन प्रधान कथानक के साथ कुछ गौण कथाओं का संघटन रहता है। इसे प्रामाणिक बनाने के लिए कभी-कभी ऐतिहासिक स्थानों और चरित्रों का भी समावेश किया जाता है। इन आख्यानों का उद्देश्य कोई शिक्षा देना रहता है। इनके अंतर्गत प्रेम, नीति, भक्ति आदि का प्रतिपादन रहता है और इन्हीं के आधार पर आख्यान के प्रमुख भेद, प्रेमाख्यान, नीत्याख्यान, साहसिक आख्यान आदि रहते हैं। हिंदी में लिखे गए इस कोटि में पद्मावत, मृगावती, मधुमालती, इंद्रावती, नलोपाख्यान, ढोला मारूरु रा दूहा, छिताईवार्ता ग्रंथ आते हैं।

चरित काव्य

चरित काव्य भी वर्णनात्मक प्रबंध काव्य है, जिसके अंतर्गत किसी महापुरुष या वीर व्यक्ति की वीरता और साहस से युक्त घटनाओं का वर्णन करते हुए चरित लिखा जाता है और चरित काव्य इतिहास-संमत और तथ्यात्मक होता है। हिंदी के चरित काव्य इस दृष्टि से संस्कृत से भिन्न हैं– इनमें कुछ चरित आत्मकथात्मक होते हैं, कुछ में कवित्वपूर्ण रोचक वर्णन होते हैं और कुछ में इतिवृत्तात्मक वर्णन। प्रबंध की इस कोटि में हिंदी के कई काव्य आते हैं, जैसे–

(अ) वीरसिंहदेव चरित, जहांगीर जसचंद्रिका, रतनबावनी, सुजान चरित, छत्र प्रकाश, हमीर रासो आदि।

(आ) संतों की परिचयियां, और

(इ) बनारसीदास जैन कृत अर्थकथानक आदि।

इनमें प्रथम कोटि के वर्णन प्रधान चरित काव्य हैं, जो राजाओं और वीरों का जीवन प्रस्तुत करते हैं। तृतीय कोटि में आत्मचरित हैं। चरित काव्य के ये रूप हिंदी के पूर्ववर्ती साहित्य में ही मिलते हैं। आधुनिक साहित्य में इनका गद्यात्मक रूप ही रह गया है, काव्यात्मक रूप नहीं।

खंड प्रबंध–खंड प्रबंध में कथा का सूत्र रहता है, परंतु महाप्रबंध जैसा विस्तार और वैविध्य उसमें अपेक्षित नहीं है। खंड प्रबंध के लक्षणों और भेद प्रभेदों पर अधिक विचार प्राप्त नहीं होता, परंतु खंड प्रबंध के कुछ भेदों की कल्पना हिंदी काव्यरचनाओं के आधार पर की जा सकती है। खंड प्रबंध का मुख्य भेद खंडकाव्य है। जिस प्रकार महाप्रबंध के अंतर्गत कई भेदों का विवेचन हुआ है और उनमें से कवित्व और शिल्प की दृष्टि से महाकाव्य सर्वोत्कृष्ट सिद्ध होता है, उसी प्रकार खंड प्रबंधों में खंड काव्य कलात्मक दृष्टि से सुव्यवस्थित ओर सर्वोत्कृष्ट रचना सिद्ध होती है।

खंड काव्य की विशेषताओं का निरूपण हम निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं–

1. खंड काव्य की कथा समग्र जीवन से संबंधित और विस्तृत नहीं होती, वरन् उसका एक खंड मात्र ही होती है।
2. वह कथानक किसी विशिष्ट घटना या प्रसंग के चित्रण से संबंध रखता है और वह प्रसंग ऐसा होना चाहिए कि जो किसी भी रूप में पूर्व ज्ञात हो।
3. उसमें प्राय: एक छन्द का प्रयोग होना चाहिए। यदि सर्ग एक से अधिक हैं, तो अनेक छन्दों का प्रयोग हो सकता है। इसके बीच में या पूरे प्रबंध में गीत भी रखे जाते हैं।
4. इसमें वर्णन रोचक काव्यपूर्ण और मर्मस्पर्शी होने चाहिए।
5. यथावश्यक अलंकृति और चमत्कृति भी इस काव्य में आवश्यक है। कथावस्तु के आग्रह स्वरूप संवाद भी उसमें रखे जा सकते हैं।
6. इसके अंतर्गत वर्णन की विशिष्टता, चरित्र मिश्रण की मार्मिकता और किन्हीं एक दो रसों का वर्णन हो सकता है।
7. इसकी भाषा शैली प्रसंग के अनुकूल कवित्व पूर्ण होनी चाहिए।

इन खंड काव्यों में अनेक कथाएं नहीं रहतीं। इसलिए कथानक के आधार पर इनके भेद-प्रभेद नहीं किए जा सकते, परंतु सर्गों की संख्या, उद्देश्य और गेयत्व के आधार पर हम इनके भेद-प्रभेदों पर विचार कर सकते हैं। जिस प्रबंध काव्य में एक छन्द, एक भाव और उद्देश्य को लेकर रचना की जाए, उसे संघात या एकार्थ खंड काव्य कह सकते हैं। परंतु जिसमें अनेक छन्दों में अनेक सर्गों को लेकर एकाधिक भावों और अर्थों का निरूपण हो उसको अनेकार्थ खंड काव्य कहना उपयुक्त होगा। हिंदी साहित्य में पंचवटी, रंग में भंग, पार्वतीमंगल, जानकीमंगल आदि कृतियां प्रथम कोटि में आती हैं। दूसरे प्रकार की कृतियों में जयद्रथवध, गंगावतरण, कुणाल, उद्धवशतक आदि हैं।

गेयत्व के आधार पर हम दो प्रकार के खंड-काव्य देख सकते हैं, एक वे जो गेय नहीं केवल छन्दोबद्ध हैं और द्वितीय जो कि गेय भी हैं और जिन्हें हम गीति काव्य के रूप में देखते हैं। इस दूसरी कोटि में मेघदूत को लिया जा सकता है। हिंदी काव्य के अंतर्गत, जयद्रथवध, नहुष, पथिक, तुलसीदास आदि दूसरी कोटि में रखे जा सकते हैं। इसी प्रकार कल्पित और ऐतिहासिक कथातत्व के आधार पर भी खंड काव्यों के भेद किए जा सकते हैं।

निबद्ध काव्य

निबद्ध काव्य वे कृतियां हैं, जिनमें कथा की सूत्रता न होकर किसी भाव या विचार की सूत्रता रहती है। एक प्रकार से ये पद्यात्मक निबंध हैं। इन निबंध काव्यों में किसी एक भाव या विचार का सशक्त शैली में प्रतिपादन किया जाता है। इनमें वैयक्तिक अनुभव, विचार और भाव की विशेष रूप से अभिव्यक्ति की जाती है। इसके उदाहरण में प्रतापनारायण मिश्र का 'बुढ़ापा', श्रीधर पाठक की 'काश्मीर सुषमा', प्रसाद की 'प्रलय की छाया', 'आंसू', निराला के 'छत्रपति शिवाजी का पत्र' और 'कुकुरमुत्ता', पंत का 'परिवर्तन' आदि हैं। हिंदी साहित्य में निबद्ध काव्य द्विवेदी और छायावाद युग में विशेष रूप से लिखा गया। इसी के आधार पर देश प्रेम, राष्ट्रीयता, समाज सुधार तथा वैयक्तिक प्रेम और समाज की कुरीतियों संबंधी व्यंग्य लिखे गए। पद्य काव्य की यह विधा भी हिंदी की विशेष देन कही जा सकती है, क्योंकि संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं में इसका इस रूप में विकास नहीं हुआ।

मुक्तक काव्य की परंपरा हमें प्राचीन काल से प्राप्त होती है और संस्कृत में अनेक प्रकार का चमत्कार पाया जाता है। व्यापक रूप से मुक्तक अनिबद्ध काव्य है। इसमें किसी कथा या विचारसूत्र के स्थान पर उस छन्द या पद्य को समझने की अपेक्षा नहीं रहती। क्योंकि वह अपने में ही परिपूर्ण होता है। संस्कृत साहित्य के आधार पर मुक्तक अनिबद्ध काव्य का एक भेद है। अग्निपुरान में मुक्तक की परिभाषा इस प्रकार दी गई है। 'मुक्त श्लोक के एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम्' अर्थात एक छन्द में पूर्ण अर्थ एवं चमत्कार को प्रकट करने वाला अनिबद्ध काव्य मुक्तक कहलाता है। अनिबद्ध काव्य के भी संस्कृत में कुछ भेद मिलते हैं। उनके उल्लेख और नामावली हमें काव्यशास्त्र के प्राचीन ग्रंथों एवं उनकी टीकाओं के आधार पर प्राप्त होते हैं। इनके नामों में परस्पर भिन्नता भी है। दंडीकृत काव्यादर्श की तर्कवागीश कृत टीका के अनुसार तीन छन्दों वाले अनिबद्ध काव्य को गुणवती, चार वाले को प्रभद्रक, पांच के समूह को बाणावली और छः छन्दों वाले काव्य को करहाटक कहा गया है।

इससे कुछ भिन्न नाम आचार्य हेमचंद के काव्यानुशासन में मिलते हैं। आठवें परिच्छेद में उन्होंने 'अनिबद्ध मुक्तकम्' सूत्र का स्पष्टीकरण करते हुए यह लिखा है कि एक छन्द वाला मुक्तक, दो छन्दों वाला संदानितक, तीन छन्दों वाला विशेषक, चार छन्दों वाला कलापक कहलाता है, परंतु आचार्य विश्वनाथ का मत इससे थोड़ा भिन्न पड़ता है। उनके अनुसार दो छन्दों वाला कुलक होता है। इसका उल्लेख उन्होंने अपने ग्रंथ साहित्य दर्पण में किया है। इस प्रकार एक से लेकर छह छन्दों वाले अनिबद्ध काव्य के जिन नामों का उल्लेख संस्कृत साहित्य में मिलता है वे हैं मुक्तक, युग्मक, संदानितक या गुणवती, कलापक या प्रभद्रक, कुलक या बाणावली और करहाटक।

हिंदी काव्य के अंतर्गत मुक्तक के अतिरिक्त अन्य नाम प्रचलित नहीं हुए। मुक्तक कविताओं के ही छोटे-बड़े अनेक प्रकार के संग्रह हिंदी में देखने को मिलते हैं। इन संग्रहों को छन्द संख्या के आधार पर पंचक, सप्तक, अष्टक, दशक, बीसी, पचीसी, बत्तीसी, चालीसा, पचासा, बावनी, शतक, सतसई और हजारा नाम दिए गए और हिंदी साहित्य में इनका काफी प्रचलन हुआ। मुक्तक की धारणा हिंदी काव्य के अंतर्गत एक छन्द या एक गीत के रूप में ही रही, जिसमें कि कोई चमत्कार या अर्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति निहित हो। इस प्रकार की मुक्तक रचना कभी-कभी प्रबंध काव्य के बीच भी आ जाती है। इसका व्यवहार हिंदी में ही नहीं हुआ, वरन संस्कृत में भी यह परंपरा मिलती है। इसका संकेत करते हुए अभिनव गुप्त पादाचार्य ने लिखा है, **'मुक्तमन्येनानालिंगितम् तस्य संज्ञापनम्। तेन स्वतंत्रतया परिसमाप्तनिराकांक्षार्थमपि, प्रबंध मध्यवर्ती मुक्तकमित्युच्यते।.... पूर्वा परनिरपेक्षेणापि हि येन रस चर्वणा क्रियते तदैव मुक्तकम्।'** इससे स्पष्ट है कि जो स्वतंत्र रूप से आशय को प्रकट करने में सक्षम हो और पूर्ववर्ती या परवर्ती छन्द या प्रसंग के बिना जिसमें रसास्वादन कराने की क्षमता हो, वह मुक्तक होता है। यह प्रबंध के मध्य में भी आ सकता है।

मुक्तक काव्य के अनेक भेद हो सकते हैं, जैसे–प्रथम प्रकार का भेद तो पाठ्य और गेय मुक्तकों में और द्वितीय प्रकार का भेद आत्मपरक और वस्तुपरक मुक्तकों के रूप में किया जा सकता है। आत्मपरक गेय मुक्तक ही प्रगीत अथवा गेय या गीतिकाव्य के रूप में हिंदी में प्रचलित है। पाठ्य मुक्तक भी अनेक प्रकार के संग्रहों में मिलते हैं, जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। हिंदी साहित्य के पूर्ववर्ती युगों में मुक्तक रचनाओं के लिए विशेषरूप से प्रयुक्त छन्द दोहा, सोरठा, सवैया, छप्पय, कुंडलियां और घनाक्षरी रहे हैं, परंतु आधुनिक युग में अन्य मात्रिक और वार्णिक छन्दों का प्रयोग हुआ है। आजकल कुछ मुक्तक उर्दू छन्द शैली में भी लिखा जाता है। इन पाठ्य मुक्तकों में भी कुछ वस्तुपरक होते हैं, कुछ भावपरक, जिनके अनेक उदाहरण हमें हिंदी साहित्य में मिलते हैं।

गेय मुक्तकों में भी अनेक भेद-प्रभेद हिंदी साहित्य के अंतर्गत विकसित हुए हैं। आम तौर पर हम गेय मुक्तक काव्य को दो भेदों में देख सकते हैं–(1) साहित्यिक या कलागीत और (2) लोकगीत।

कलागीत–ये गीत साहित्यिक अलंकृत शैली पर लिखे गए हैं, जिनमें भावों और विचारों को परिमार्जित, शिष्ट, नागरिक भाषा में प्रस्तुत किया जाता है। ये भी वस्तुपरक और भावपरक दो प्रकार के हो सकते हैं।

लोकगीत–ये सहज और स्वाभाविक उद्‌गार के रूप में प्रकट होते हैं। ये हमारे लोक-जीवन में विविध संस्कारों, क्रियाकलापों, उत्सवों, त्यौहारों, ऋतुओं में गाए जाते हैं। प्रायः लोकगीत वे कहे जाते हैं, जिनका लेखक अज्ञात होता है और अनेक जिह्वाओं पर गाते-गाते जो सहज परिष्कार पा चुके होते हैं, परंतु आजकल कुछ प्रसिद्ध कवियों के द्वारा लोकगीत शैली में लिखे गए गीत भी मिलने लगे हैं, जो इस बात के द्योतक हैं कि लोकगीत में कवित्व का नैसर्गिक आकर्षण होता है, इसके अंतर्गत जीवन सहज आशाओं, आकांक्षाओं, हर्ष-विषाद, खीझ, उल्लास आदि के रूप में बहता रहता है। लोकगीत भी दो भेदों में हमें मिलते हैं, जैसे–एक तो भाव-प्रधान, दूसरे वस्तु या वर्णन-प्रधान। भाव-प्रधान या लोकगीतियों के अनेक

रूप हमारे ग्रामीण समाज के बीच प्रचलित हैं, जिनके प्रमुख भेद निम्नलिखित हैं, जैसे– (1) संस्कार गीत, (2) उत्सव त्योहार गीत, (3) ऋतु गीत, (4) धार्मिक गीत, (5) दिनचर्या गीत, (6) विविध। ये लोक गीत न केवल हिंदी काव्य की अमूल्य संपत्ति हैं, वरन् इनका प्रभाव हिंदी के गेय काव्य पर बहुत अधिक पड़ता है।

गीति काव्य या प्रगीत

प्राय: भाव प्रधान गीतों को गीतिकाव्य या प्रगीत की संज्ञा दी जाती है। इस गीतिकाव्य की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

1. गीतिकाव्य गाने योग्य होना चाहिए।
2. इसके अंतर्गत स्वानुभूति का प्रकाशन होना चाहिए।
3. इसमें सुकुमार भावों की घनीभूत एवं तीव्र अभिव्यक्ति होनी चाहिए।
4. एक गीत में एक ही भाव का प्रकाशन होना चाहिए। हिंदी में गीतिकाव्य भी अनेक भेदों-प्रभेदों में मिलता है, जैसे–प्रणय गीत, वीर गीत, देश गीत, शोक गीत आदि।

गीति काव्य अनुभूति प्रधान काव्य है। इसमें किसी वस्तु या भाव को कवि अपनी अनुभूति में उतार कर प्रकट करता है। गीतियों में कवि की आत्मा, चेतना और संवेदना झांकती है। अनुभूति की तीव्रता में गीत कवि का सहज उद्‌गार है। अतएव स्वानुभूति इस काव्य का प्रमुख तत्व है। जर्मनी के प्रसिद्ध विचारक हीगल के मतानुसार काव्य का शुद्ध और प्रकृत रूप गीतिकाव्य ही है। कविता का यह सहज नैसर्गिक और मनोरम रूप है। इसके आधार पर कहा जा सकता है कि गीति भावना कविता की सार वस्तु है।

हिंदी काव्य में प्रगीत और उसके विविध रूप

प्रगीतात्मकता की मनोदशा में कवि अपने व्यक्तित्व के सबसे समीप होता है। इसके अंतर्गत मनोभावना के साथ-साथ ही शैली अर्थात कथन का ढंग भी विशेष महत्वपूर्ण होता है। इस प्रवृत्ति के अंतर्गत कवि संगीतमयी, मधुर रचना के सहारे अपनी निजी अनुभूतियों का प्रकाशन करता है। वह अपने ही व्यक्तित्व का विश्लेषण करता तथा अपने स्मरणीय पक्षों का सजीव चित्रण करता है। उसकी कल्पना या तो अपने ही अभ्यंतर में डूबकर विश्व के सामने, अपनी भावनाओं और अनुभूतियों का भंडार खोलती है अथवा वह आकाश में उड़ कर प्रकृति के बीच विचरण कर, प्रकृति के पदार्थों में आत्मीयता का अनुभव करती है और उन्हीं में छिपी भावनाओं को प्रकट करती है।

कवि के सचेतन व्यक्तित्व का अपनी कल्पना पर पूरा और सुदृढ़ अधिकार रहता है और वह प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक घटना को अपनी व्यक्तिगत भावना के रंग से रंगी हुई देखता है। जो कुछ भी वह देखता है, गाता है, वह उसकी हृदय से निकलती हुई, स्वानुभूति से स्पंदित स्वर लहरी होती है। इस प्रवृत्ति में कवि भावों में तन्मय होकर लिखता है, इसी कारण से प्रगीतात्मक काव्य सबसे अधिक प्रभावशाली होता है। कवि अपने दुख-सुख के अनुभवों को सीधे ढंग से अपना कहकर व्यक्त करता है, किंतु वे उसके होते हुए भी सारी मानवता के होते हैं, क्योंकि तीव्र सात्विक अनुभूति की अवस्था में एक सहृदय मानव दूसरे से अधिक भिन्न नहीं होता।

प्रगीतात्मक काव्य में भावानुभूति बहुत प्रबल होती है। इसके अतिरिक्त कवि अपने भाव बहुधा प्रथम पुरुष में अपने ही मुख से सीधे ढंग से व्यक्त करता है, वहां प्रगीतात्मक काव्य में 'प्रखर चेतना' काम करती है। प्रगीत काव्य में हम कवि के साथ सहानुभूति रखते हैं, उसके लिए रोते हैं, उसके प्रति दया करते हैं, परिस्थितियों या भाग्य को कोसते हैं, उससे प्यार करते हैं या उससे घृणा करते हैं। प्रबंध काव्य में कवि, समाज और पात्रों से ऊंचा उठ जाता है, वह उसका विधायक है, निर्माता है, पर प्रगीत काव्य में पाठक और श्रोता कवि से ऊंचे होते हैं।

हिंदी कविता के प्रगीतों के प्रमुख स्वरूपों का हम निम्नलिखित भेदों में अध्ययन कर सकते हैं–विनयगीत, प्रेम गीत और ग्राम गीत।

विनय प्रगीत

इन प्रगीतों के अंतर्गत, आत्म समर्पण, प्रार्थना, याचना, आत्मदीनता आदि की भावना प्रधान रहती है और व्यक्ति स्वयं अपनी बात परमात्मा से निवेदन करता है। परमात्मा की प्रशंसा इन भावनाओं के साथ रहती है और उसमें दयालुता, न्यायप्रियता, उदारता आदि गुणों का विशेष रूप से आरोप किया जाता है। विनय प्रगीतों में कवि सांसारिक संबंधियों को असमर्थ समझ कर परमात्मा से प्रार्थना किया करता है, अतिशय दुख के कारण और कभी-कभी सफलता द्वारा उत्पन्न हर्ष के आवेश में वह इस भावना से ओत-प्रोत होता है। अतः विनय प्रगीत का मूल कारण मनुष्य की अभावानुभूति है। एक पूर्ण समर्थ शक्ति में कवि का यह विश्वास होता है कि विनय द्वारा वही शक्ति प्रसन्न होकर उसका कल्याण करेगी। इनमें हम प्रायः दो भावनाएं प्रधान देखते हैं–प्रथम आत्म निवेदन की है। इसके अंतर्गत अपने दोषों और पापों का वर्णन करते हुए, आत्मोत्सर्ग का भाव विशेष रूप से रहता है। दूसरी भावना परमात्मा में उनके कृत्य और दया आदि में विश्वास की है।

तुलसी की विनय पत्रिका तो विनयगीतों का भंडार ही है। यही भावनाएं वहां देखने को मिलती हैं–

तू दयालु दीन हौं तू दानि हौ भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी तू पाप पुंज हारी।।
नाथ तू अनाथ को अनाथ कौन मोसों।
मो समान आरत नहिं आरतिहर तोसों।।

प्रेम प्रगीत-आध्यात्मिक

प्रगीतों का दूसरा भेद प्रेम प्रगीतों का है। इनके अंतर्गत आध्यात्मिक प्रेम और भौतिक प्रेम के प्रगीत हैं। आध्यात्मिक प्रेम प्रगीत, विनय गीतों से इस कारण से भिन्न है कि आध्यात्मिक प्रेम प्रगीतों में प्रधान भावना प्रेम की है, जबकि विनय प्रगीतों में प्रधान भावना श्रद्धा, विश्वास और दीनता की है। इनमें परमात्मा के प्रति तीव्र और गहरी उमगती प्रेम भावना भरी रहती है।

परमात्मा के साथ जाने का आनंद कबीर नीचे के पद में वर्णित करते हैं–

मैं अपने साहब संग चली।
हाथ में नारियल मुख में बीड़ा, मोतियन मांग भरी।

लिल्ली घोड़ी जरद बछेड़ी, तापै चढ़ि के चली।।
नदी किनारे सतगुर भेंटे, तुरत जनम सुधरी।
कहै कबीर सुनो भई साधो, दोउ कुल तारि चली।

प्रेम प्रगीत-2 लौकिक (भौतिक)

प्रेम प्रगीतों में प्रेम की तीखी और व्यापक हिलोर भरी रहती है। इनमें प्राय: कला की उत्कृष्ट कोटि देखने में आती है, क्योंकि प्रेम सबसे प्रबल भाव है और विश्व की उत्कृष्ट कविता का स्रोत है। प्रेमानुभूति और कल्पना कविता की दो शक्तियां हैं।

प्रेम का परिचय नीचे के छन्द में देखिए–

अति खीन मृणाल के तारहु ते, देहि ऊपर पांव दे आवनौ है।
सुई बेह के द्वार सकै न जहां, परतीति को टांड़ो लदावनो है।।
कवि बोधा अनी घनी नेजहु, चढ़ि तापै न चित्त डिगावनो है।
यह प्रेम को पंथ करार है री, तरवारि की धार पै धावनो है।

ग्रामगीत

प्रगीतों का अति स्वाभाविक रूप ग्रामगीत विषयक लोकगीतों में देखने को मिलता है। ये लोकगीत ग्राम्य मनुष्यों और विशेषकर नारियों के द्वारा किसी त्योहार, उत्सव, संस्कार के अवसर पर या नित्यप्रति काम करते समय गाए जाते हैं। इनके भीतर उस अवसर के अनुकूल व्यक्ति की बड़ी तीव्र भावना अंतर्निहित रहती है और स्वानुभूति का स्वर हृदय पर स्थायी चोट करने वाला होता है। इनकी विशेषता अवसर विशेष की व्यापक अनुभूति को वैयक्तिक तीव्रता के साथ वर्णन करने में है। अवध के पास ऋतु, त्योहार, उत्सव, संस्कार आदि के अवसर पर गाए जाने वाले ग्रामीणों का विस्तृत भंडार है, जिसकी विभिन्नता भी कम आकर्षक नहीं।

ग्राम्य-जनों का दैनिक जीवन गीतों से भरा हुआ है। प्रभात के समय जब नारियां चक्की पीसती हैं, उस समय उषाकाल की शांत, शीतल और सुरभित वायु को मधुर स्वर लहरी से भर देती हैं, जो एकरस चलने वाली चक्की की घर्र-घर्र के साथ विषमता ही नहीं पैदा करती अपितु उसे भी माधुर्य और सरसता देती है, वैसे ही जैसे उजाड़ में उगे हुए कुछ हरे-भरे पौधे। सबसे सुंदर समय में गाए जाने और नारियों के कोकिल कंठों की मधुराई से युक्त होने के साथ-साथ ही गीत स्वत: सुंदर कल्पना और गहरे भावों से भरे-पूरे होते हैं।

प्रभात के बाद दिन के समय जब गांव के लोग वर्षा के दिनों खेतों में निरौनी करते होते हैं अथवा किसी पेड़ की डाल पर बैठे गायों को चराते हैं और कोई हल्का काम करते हैं, तब एकाध गीत की लड़ी पास के बगीचों में प्रतिध्वनि करती हुई सुनाई पड़ती है। वर्षा की भिन्न-भिन्न ऋतुओं के लिए अवसर के अनुकूल गीत होते हैं, जैसे हिंडोला, चौमासा, बारहमासा, दीवाली, होली, फाग, घमार और इसी प्रकार से पूजा, बटगमनी, लोरी आदि के गीत हैं। पावस हमारे लिए ग्रीष्म के बाद आनंदमयी परिवर्तन उपस्थित करता है। इसीलिए भारतवर्ष में इस समय अचानक गीतों का भी प्रस्फुटन होता है।

यह आनंद पशु-पक्षी, कीट-पतंगों तक में देखा जाता है। चारों ओर चहक मचती है, तब मनुष्य का आनंद विभोर होकर गाना तो और भी स्वाभाविक है। इस समय के गीतों में

बड़ा आनंद भरा रहता है। हृदय के उच्छवास के समान ही सहज निकले हुए ये गीत होते हैं, इनमें जीवन का उल्लास अथवा निराशा भरी रहती है, अतः इसका बड़ा प्रभाव है। विशेष अवसरों पर गाए जाने वाले ग्रामगीतों में साहिल (सोहर), जनेऊ, बधाई, विवाह आदि के गीत विशेष प्रसिद्ध हैं। इनमें से किसी में उल्लास की भावना है और किसी में विषाद की अनुभूति। इन ग्रामगीतों में नीचे लिखी विशेषताएं मिलती हैं–

1. पहली यह कि पूरे गीत में एक ही भाव रहता है।
2. दूसरे ये व्यक्तिगत अनुभूति के सीधे और सहज प्रकाशन है।
3. इनमें अनुभूति पर प्रभाव डालने वाले, अवसर विशेष के अनुकूल स्वाभाविक और सहज प्रकाशन अपनाया गया है।
4. इनमें केवल वर्णन नहीं, वरन् भावानुभूति की ही प्रधानता रहती है।
5. ये अकेले अथवा समूह के द्वारा, ढोलक, मंजीरा या और बाजों के साथ गाने के लिए रचे गए हैं।
6. अधिकांश शब्दों और पदों की पुनरावृत्ति उन्हें सहज स्मरणीय बनाती है।
7. अपनी विशेष संस्कृति की झलक दिखाते हुए इनमें विश्वव्यापी भावों का चित्रण है।

इन विशेषताओं के साथ ग्रामगीतों के अंतर्गत साहित्य की प्रमुख विशेषताएं हैं, भाव और भाषा दोनों का सौंदर्य है और इनकी विशेषताएं इन्हें प्रगीत का सौंदर्य प्रदान करती है।

1.3 काव्य लक्षण

काव्य मानव जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। कविराज विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण में लिखा है–

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते॥

अर्थात काव्य ऐसी वस्तु है, जिससे अल्पबुद्धि मानव को बिना किसी कष्ट साधना के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी पुरुषार्थ चतुष्ट की प्राप्ति हुआ करती है। अतः जो काव्य मनुष्य के जीवन में इतना महत्व रखता है वह कैसा हो, जिसे पढ़कर, आत्मस्थ करके मनुष्य चारों पुरुषार्थों को प्राप्त कर सके? इसका उत्तर भोजराज ने अपने ग्रंथ में इस तरह दिया है–

अदोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति॥

अर्थात काव्य वह है जो निर्दोष हो, गुणयुक्त हो, अलंकारों से अलंकृत हो और रस समन्वित हो और कवि वह है जो ऐसे काव्य की रचना करता है एवं यश और कीर्ति पाया करता है। अनेक आचार्यों ने कुछ इसी तरह के काव्य को प्रेरक और सुफलदायक बताया। काव्य का स्वरूप उसके लक्षणों या गुणों द्वारा निर्धारित किया जाता है। अनेक विद्वानों ने काव्य के स्वरूप को निर्धारित करने के लिए अपने-अपने मतानुसार अनेक परिभाषाएं दी हैं। ये परिभाषाएं ही काव्य के लक्षणों को समेटे हुए हैं।

काव्य में रस हो, अलंकार हों, जो यथायोग्य एवं यथास्थिति निर्धारित हों, उचित रीति से लिखा गया काव्य हो, ध्वनि की प्रधानता हो, वक्रोक्ति हो तथा इन सबका उचित रीति-नीति से समावेश किया गया हो तभी काव्य वस्तुतः काव्य कहलाएगा। उत्तम काव्य की संज्ञा प्राप्त करेगा। औचित्य के बिना इन लक्षणों से युक्त काव्य में भी दोष उत्पन्न हो जाएंगे और तब न अलंकार अलंकारी होगा, न रस रसत्व उत्पन्न करेगा। अतः काव्य के निम्नलिखित पांच लक्षणों–रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि के साथ छठे लक्षण औचित्य का होना आवश्यक है। जैसे जीवन में औचित्य का महत्व है वैसे ही काव्य में भी। जीवन-मूल्य, सामाजिकता, नैतिक मूल्यों का निर्वाह औचित्य के आधार पर होता है।

अनौचित्य के उपस्थित होते ही मनुष्य पतित हो जाता है, जीवन नीरस और बेरंग हो जाता है उसी तरह काव्य के लक्षणों के साथ औचित्य का नाता है। तरकारी में नमक या मसालों की मात्रा अनुचित हो तो तरकारी बेस्वाद हो जाती है उसी तरह काव्य में यदि करुण रस के प्रसंग में रस की मात्रा कम या ज्यादा हो या अन्य रस समाविष्ट हो जाएं तो काव्य निम्न कोटि का हो जाता है। जिस तरह क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर से मिलकर जीव के शरीर का निर्माण हुआ है उसी तरह ये काव्य लक्षण भी आपसी तालमेल से काव्य का निर्माण करते हैं। अतः सभी अपनी-अपनी स्थिति में महत्वपूर्ण हैं। इन लक्षणों को काव्य के गुण भी कह सकते हैं। किन गुणों से या किन लक्षणों से युक्त काव्य, काव्य की श्रेणी में आता है इस पर विचार करते हुए अनेक कथन सामने आते हैं–

1. आचार्य विश्वनाथ के अनुसार, "वाक्यम् रसात्मकं काव्यम्।" *–साहित्यदर्पण*
2. पंडितराज जगन्नाथ के अनुसार, "रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।"
   –रसगंगाधर
3. हेमचंद के अनुसार, "अदोषौ सगुणौ आलंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्।"
4. भामह के अनुसार, (1) "न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।"
   (2) "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।" *–काव्यालंकार*
5. दंडी के अनुसार, "काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।" *–काव्यादर्श*
6. वामन के अनुसार–
   (क) "काव्यशब्दोऽयं गुणालंकार संस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्ततेः।"
   अर्थात गुणों तथा अलंकारों से भूषित शब्द और अर्थ के लिए काव्य शब्द का प्रयोग किया जाता है।
   (ख) "काव्यं ग्राह्यमलंकारात्।" अर्थात काव्य अलंकार के कारण ग्राह्य होता है।
   –काव्यालंकार सूत्रवृत्तिः
7. मम्मट के अनुसार, "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावानलंकृती पुनः क्वापि।" अर्थात दोष रहित तथा गुण युक्त शब्द और अर्थ का सामंजस्य ही काव्य है।
   –काव्यप्रकाश

कुछ विद्वानों द्वारा गुण को भी समाविष्ट कर काव्य लक्षणों–रस, ध्वनि, रीति, गुण, अलंकार, वक्रोक्ति और औचित्य, इन सातों को काव्य का अंग भी माना गया है। इनके बिना काव्य

क्षण,
ोजन
ष

की स्थिति असंभव होती है। इन्हें स्वरूपाधायक उपादान तत्व कहते हैं। इनसे काव्य की शोभा तो बढ़ती ही है काव्य विशिष्ट भी बन जाता है। कुंतक वक्रोक्ति को ही काव्य का मूल बताते हैं।

8. कुंतक के अनुसार, "शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी।"

अर्थात वक्रोक्ति युक्त पदरचना में सहभाव से व्यवस्थित शब्दार्थ ही काव्य है। वह वक्रोक्ति सामाजिकों को आह्लादित करती है। *–वक्रोक्तिजीवितम्*

9. जयदेव के अनुसार, "अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती। असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती।" *चंद्रालोक*

अर्थात जो लोग अलंकार रहित शब्दार्थ को काव्य मानते हैं वे अग्नि को भी उष्णता रहित क्यों नहीं मान लेते।

10. अग्निपुराण के अनुसार, "अलंकार रहिता विधवेव सरस्वती।" अर्थात अलंकार रहित सरस्वती विधवा है। किंतु दूसरी ओर वे रस को ही काव्य की आत्मा मानते हैं–"वाग्वैदग्ध्य प्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।" अग्निपुराणकार उक्ति चमत्कार को प्रधानता देते हैं तथा रस की सत्ता और महत्ता को स्वीकार करते हैं। आचार्य विश्वनाथ 'रसयुक्त वाक्य' को ही काव्य मानते हैं। पंडितराज जगन्नाथ कहते हैं–'जो शब्द रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करे वही वाक्य काव्य है।' अन्य चमत्कार मूलक तत्व रस के साथ पोषक तत्वों के रूप में उपस्थित रहते हैं यह विश्वनाथ और मम्मट दोनों आचार्यों ने स्पष्ट किया है। इसीलिए आचार्य विश्वनाथ की परिभाषा सटीक है। जैसे शौर्य आदि गुण आत्मा का उत्कर्ष करते हैं उसी तरह 'गुण' रसों के उत्कर्ष हेतु हैं। इसी तरह अलंकार वैसे ही शब्दार्थ के शोभाकारक अस्थाई धर्म हैं जैसे–कवच, कुंडल आदि आभूषण शरीर के। कहा जा सकता है कि काव्य उपरोक्त लक्षणों से संपन्न ऐसा साहित्य है जो सहृदय को भावलोक में पहुंचा देता है। राग-द्वेषादि से दूर कर सांसारिक बंधनों से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। व्यष्टि को समष्टि में लीन कर देता है जहां अपने-पराए का भाव शेष नहीं रह जाता।

11. "सगुण अलंकारन सहित दोषरहित जो होय।
शब्द अर्थ वारो कवित विबुध कहत सब कोय।।" *–चिंतामणि*

12. "काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है।" *–प्रसाद*

काव्य के सभी लक्षणों का अपना-अपना संप्रदाय और सिद्धांत है। इनके प्रकार, उपप्रकार हैं। काव्य के सभी लक्षण चाहे रस हो या अलंकार, रीति हो या वक्रोक्ति, ध्वनि हो या औचित्य सभी एक दूसरे से संबंधित हैं। रस, रीति और औचित्य सर्व समावेशी लक्षण हैं। सभी काव्य में किसी न किसी रूप में पाए जाते हैं। अलंकार बाह्य यानी शारीरिक होने के साथ-साथ आत्मा का गुण भी है जिससे आत्मा अलंकृत और प्रभा संपन्न होती है। वक्रोक्ति भी अलंकार का एक रूप है तथा ध्वनि भी काव्य के सभी प्रकारों में न्यूनाधिक हो या प्रबल

और सटीक उपस्थित अवश्य होती है बल्कि ध्वनि युक्त काव्य को ही कुछ काव्यशास्त्रियों ने उत्तम काव्य की संज्ञा दी है। काव्य के इन लक्षणों के संस्थापक या प्रवर्तक काव्यशास्त्र के आचार्य हैं। जैसे– 'रस' के भरतमुनि, 'अलंकार' के भामह, 'रीति' के वामन, 'वक्रोक्ति' के कुंतक, 'ध्वनि' के आनंदवर्धन, 'औचित्य' के क्षेमेंद्र।

1.4 काव्य हेतु

काव्यशास्त्रियों के काव्य 'हेतु' अपनी स्वतंत्र सत्ता रखते हैं। न्यायदर्शन का 'हेतु' भी इनसे अंशत: मिलता-जुलता है। दर्शनशास्त्र में इसे कारण कहा जाता है। 'हेतु' अर्थात वे साधन जो काव्य-रचना में कवि के सहायक होते हैं। कुछ आचार्य प्रतिभा को काव्यत्व का बीज मानते हैं और उसे ही 'हेतु' स्वीकार करते हैं।

हेतु या कारण दो प्रकार के होते हैं–(1) उपादान (2) निमित्त। अग्निपुराण में लोक-व्यवहार तथा वेद के ज्ञान को काव्य-प्रतिभा की योनि कहा गया है तथा सिद्ध किए गए मंत्र के प्रभाव से जो काव्य निर्मित होता है उसे अयोनिज कहा गया है। इससे काव्य के तीन हेतुओं का पता चलता है–(1) काव्य-प्रतिभा (2) वेद-ज्ञान और (3) लोक-व्यवहार। भामह भी प्रतिभा को मूल 'हेतु' मानते हुए लिखते हैं–

"गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावत:॥" *–काव्यालंकार*

अर्थात गुरु के उपदेश से शास्त्र का अध्ययन तो जड़बुद्धि भी कर सकता है। परंतु काव्य की रचना प्रतिभावान ही कर सकता है।

दंडी– तीन हेतुओं की चर्चा करते हैं–(1) नैसर्गिक प्रतिभा (2) लोकशास्त्र ज्ञान (3) अमंद अभियोग। दंडी प्रतिभा की महत्ता को स्वीकार करते हुए भी श्रम और यत्न को पर्याप्त महत्व देते हैं।

वामन ने अनेक हेतुओं की चर्चा करते हुए उन्हें तीन वर्गों में विभाजित किया है–(1) लोक (2) विद्या (3) प्रकीर्ण। 'लोक' अर्थात लौकिक व्यवहार के ज्ञान को प्रथम स्थान दिया है। विद्या के अंतर्गत शब्द-शास्त्र, कोश, छन्द शास्त्र, कला, दंडनीति आदि विद्याएं परिगणित की हैं। प्रकीर्ण के अंतर्गत लक्ष्य, ज्ञान, अभियोग, वृद्ध सेवा, अवेक्षण, प्रतिभान और अवधान क्रमश: को सम्मिलित किया है। प्रतिभा को तीसरे स्थान पर रखना अन्य आचार्यों को उचित नहीं जान पड़ा। कुंतक प्रतिभा को महत्व देते हैं लेकिन सर्वाधिक महत्वपूर्ण कवि स्वभाव को मानते हैं। वे कहते हैं सुकुमार स्वभाव से ही सुकुमार शक्ति उत्पन्न होती है।

मम्मट के अनुसार–(1) शक्ति (2) निपुणता और (3) अभ्यास, ये तीन काव्य हेतु हैं। निपुणता और अभ्यास ये दो नवीन शब्द मम्मट ने प्रयोग किए हैं।

राजशेखर प्रतिभा को दो भागों में बांट देते हैं–(1) कारयित्री (2) भावयित्री। कारयित्री प्रतिभा कवि में और भावयित्री प्रतिभा भावक के हृदय में निवास करती है। उन्होंने पुन: कार्यित्री प्रतिभा को भी तीन भागों में बांट दिया–(1) सहजा कारयित्री प्रतिभा (2) आहार्या

लक्षण, योजन दोष

कारयित्री प्रतिभा (3) औपदेशिकी कारयित्री प्रतिभा। इनकी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं–'सहज प्रतिभा' जन्म-जन्मांतरों के संस्कारों का प्रतिफल है। 'आहार्या' वर्तमान जीवन का संस्कार है तथा 'औपदेशिकी' तंत्र, मंत्र, देवता, गुरुजन, स्वजन आदि के उपदेश एवं शिक्षा से उद्‌बुद्ध होती है।

रुद्रट के अनुसार प्रतिभा के दो प्रकार हैं–सहजा और उत्पाद्या।

अभिनवगुप्त प्रतिभा के दो रूप मानते हैं–सामान्य प्रतिभा एवं कवि प्रतिभा।

अभिनव गुप्त के गुरु भट्टतौत ने प्रज्ञा को मूलभूत शक्ति मान कर प्रतिभा को उसका एक रूप बताते हुए उसे नवोन्मेषशालिनी शक्ति कहा है। अर्थात प्रतिभा प्रज्ञा का वह रूप है जो नवीन-नवीन रूपों का सृजन तथा उद्‌घाटन करती है। प्रतिभा रसात्मक रूपों, नए रूपों का निर्माण करती है। इसमें अपूर्व वस्तु निर्माण की क्षमता है। यह शब्दार्थ के सौंदर्य को बढ़ाती है।

काव्य सृजन की प्रक्रिया के संबंध में अनेक मत हैं। कोई केवल शारीरिक दृष्टि से, कोई मानसिक और कोई आध्यात्मिक दृष्टि से इसका विश्लेषण करते हैं, परंतु काव्य-सृजन की प्रक्रिया एक साथ शारीरमानसात्मिक प्रक्रिया है। इसमें शरीर प्रमुखतया साधन और माध्यम है। प्रमुखतया क्रिया मनस्तत्व की है, जिसमें चेतना आत्मतत्व को स्पर्श और जागृत करती है। आत्मतत्व के संस्पर्शित होने पर आनंदमय उत्कृष्ट काव्य की सृष्टि होती है और उसके उद्‌बुद्ध होने पर रहस्यात्मक काव्यधारा प्रवाहित होती है। सामान्यतया लौकिक काव्य मनस्तत्व अनुभूति और कल्पना को प्रेरित करता है।

अनुभूति को प्रमुखतया संस्पर्श करने पर भावात्मक काव्य की तथा कल्पना के क्षेत्र को संस्पर्श करने से कलात्मक काव्य की प्रधानतया सृष्टि होती है। दोनों का सामंजस्य होने पर ही व्यापक प्रभाव वाले काव्य की रचना संभव है, जिसमें कवि का मन एक साथ कल्पना और अनुभूति दोनों ही क्षेत्रों के संस्पर्श का आनंद उठाता है। बुद्धि तत्व सामान्यतया 'भोजनं लवणवत्' (भोजन में नमक के साथ) रहता है, परंतु अधिक होने पर फिर प्रचारवादी या नीति उपदेश प्रधान काव्य की रचना होती है। अनुभूति की धरती पर जब कल्पना विचरण करने लगती है, तब सुंदर भाव-कला संपन्न काव्य की सृष्टि होती है।

भारतीय साहित्य में प्रतिभा को बहुत आवश्यक एवं अनिवार्य तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है, परंतु कुछ लोगों का यह भी विचार है कि साधना द्वारा काव्य रचना की शक्ति एवं प्रतिभा संवर्द्धित की जा सकती है। अतः हमारे सामने प्रश्न उठता है कि क्या प्रतिभा न होने पर भी साधना और प्रयत्न द्वारा काव्य की रचना की जा सकती है? क्या काव्य रचना बिना प्रतिभा के संभव है, इस प्रश्न पर विचार करने से पहले हमें यह समझ लेना चाहिए कि प्रतिभा क्या है और क्या प्रतिभा उत्पन्न की जा सकती है? यह प्रश्न जितना प्रमाण-सापेक्ष है, उतना ही विज्ञान और मनोविज्ञान से भी संबंधित है। संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान भट्टतौत ने कहा है कि–

बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया मतिरागामिगोचरा।
प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता॥

अर्थात तत्काल कार्य करने का निश्चय देने वाली बुद्धि है, आगामी वस्तु और परिस्थिति की कल्पना और तदनुरूप निर्णय देने वाली शक्ति मति है और जो नई-नई प्रेरणा और कल्पना देने वाली प्रज्ञा-शक्ति है, वही प्रतिभा है। इस कथन से स्पष्ट है कि प्रतिभा नई सृष्टि की प्रेरक शक्ति है। जिस शक्ति द्वारा हमारे मन में नई कल्पनाएं, उद्‌भावनाएं तथा दृष्टियां प्रकट होती रहें, वही प्रतिभा है। प्रतिभा के संबंध में ध्वन्यालोककार आनंदवर्धन का भी कुछ इसी प्रकार का मत है, उन्होंने लिखा है कि "अपूर्ववस्तु निर्माणक्षमा प्रज्ञा" अर्थात पहले जैसी वस्तु नहीं है, वैसी वस्तु के निर्माण की क्षमता प्रज्ञा है। अतएव प्रतिभा, विशिष्ट और अधिक सक्रिय प्रज्ञा कही जा सकती है।

यह स्पष्ट है कि काव्य मूलतः नई सृष्टि है। यह नवीनता अनेक रूपों में देखी जा सकती है। वस्तु की नवीनता, भावगत नवीनता, कल्पना की नवीनता, अभिव्यक्ति की नवीनता आदि। काव्य के अंतर्गत यह नवीनता रहती ही है और वही उसकी अपूर्वता है। अतः काव्य की रचना के लिए नवीन सृष्टि संबंधी प्रतिभा आवश्यक है। इसमें दो मत नहीं हो सकते परंतु हमारे सामने इस प्रसंग में दो प्रश्न मूलतः उठते हैं– पहला यह कि प्रतिभा जन्मजात न होने पर क्या अर्जित की जा सकती है? और दूसरा यह कि प्रतिभा के अभाव में अथवा उसकी कम मात्रा में होते हुए भी कोई अन्य साधन या तत्व है, जिनकी काव्य रचना के प्रसंग में आवश्यकता स्वीकार की जा सके?

पहले प्रश्न पर विचार करते हैं–प्रतिभा के संबंध में प्रायः मत यह है कि यह जन्मजात ही होती है। कुछ लोगों ने काव्य की शक्ति, प्रतिभा को दो रूपों में देखा है– (1) सहजा (2) उत्पाद्या।

संस्कृत के सुप्रसिद्ध विद्वान रुद्रट के विचार में सहजा प्रतिभा जन्मजात होती है और उत्पाद्या शास्त्र, लोकानुभव और संगत आदि से प्राप्त हो सकती है। इसमें संदेह नहीं कि सहजा और उत्पाद्या इन दोनों ही काव्य प्रतिभाओं में अंतर किया जा सकता है। सहजा प्रतिभा अधिक क्षमताशाली, स्वतः स्फूर्त और अजस्र सर्जनाशक्ति है, जबकि इसकी तुलना में उत्पाद्या प्रतिभा कम बलशाली, अविशिष्ट, प्रेरणास्फूर्त और कभी-कभी जागृत सर्जना शक्ति है। दोनों में अंतर होते हुए भी यह विचारणीय है कि क्या जन्मजात या सहजा प्रतिभा के न होने पर भी उसे सत्संग या प्रयत्न आदि से प्राप्त किया जा सकता है? इस संबंध में दो मत मिलते हैं, एक तो यह कि उत्पाद्या प्रतिभा के रूप में जो शक्ति काम करती है वह वास्तव में सुषुप्त, किंतु सहजा प्रतिभा शक्ति ही है और दूसरा मत यह है कि जन्म से अथवा संस्कार से प्रतिभा न होते हुए भी वह प्रयत्न द्वारा अर्जित की जा सकती है।

यह बात भी अस्वीकार नहीं की जा सकती कि जिनकी प्रतिभा जन्मजात रूप में प्रकट होती है और बाद में सत्संग, अभ्यास और प्रयत्न द्वारा प्रकट होती है, उसमें पूर्ववर्ती प्रतिभा के क्षीण बीज विद्यमान रह सकते हैं। यह संभव है कि प्रतिभा मूलतः ऐसे व्यक्तियों में रही हो, परंतु उपयुक्त अवसर के अभाव में उसका प्रस्फुटन तभी हुआ हो, जब अन्य साधन प्राप्त हुए हों। ऐसी दशा में आचार्य दंडी का यह कथन है कि–

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबंधि प्रतिभानमद्‌भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन न वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥

साधना के परिणामस्वरूप वाणी जिन पर कृपा करती है, उनके भीतर प्रतिभा का कुछ न कुछ तत्व पहले भी विद्यमान रह सकता है और जिनमें यह जन्मजात प्रतिभा का बीज प्रबल है उनमें काव्य का स्वतः स्फुरण होने लगता है, परंतु जिनमें वह क्षीण है उनमें वह अध्ययन, अभ्यास और सत्संग से उपयुक्त अवसर आने पर प्रकट होता है। इस प्रकार जिनमें बाद में कवि प्रतिभा प्रस्फुटित हुई, उनमें प्रतिभा का बीज क्षीण था। इसी स्थिति में प्रतिभा के लिए साधना का महत्व स्वीकार किया जा सकता है।

निष्कर्ष यह निकलता है कि जहां जन्मजात प्रतिभा नहीं दिखलाई देती, वहां वह अभ्यास और प्रयत्न से प्रकट की जा सकती है और जो साधन इस प्रतिभा के प्रकट होने में सहायक होते हैं, वे व्युत्पत्ति और अभ्यास माने गए हैं। व्युत्पत्ति का तात्पर्य लोक और शास्त्र का ज्ञान और अभ्यास का तात्पर्य कवि कर्म में अनवरत संलग्न रहना है। इन दोनों साधनों से कम बलवती प्रतिभा भी काव्य-रचना के कार्य में संलग्न रहती है और उत्तम काव्य-सृष्टि कर सकती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि थोड़ी बहुत प्रतिभा के विद्यमान होने पर भी कवि आलसी या लापरवाह है, तो उसकी प्रतिभा का कोई परिणाम नहीं होता और वह व्यर्थ जाती है।

अतएव इन साधनों से प्रतिभा-तत्व का अंकुरण और पल्लवन समुचित रीति से हो जाता है, इनमें संदेह नहीं। इसीलिए संस्कृत के आचार्यों ने प्रतिभा को काव्य का निमित्त कारण और संत्संग, अभ्यास और व्युत्पत्ति आदि को उपादान कारण माना है। आचार्य वामन ने काव्य का मूल कारण प्रतिभा को ही स्वीकार किया है। आचार्य जयदेव ने भी इस संबंध में लिखा है कि प्रतिभा काव्य का बीज है और व्युत्पत्ति आदि मिट्टी के समान है और अभ्यास पानी के समान।

जिस प्रकार बीज के अंकुरण और विकास के लिए पानी की आवश्यकता है, उसी प्रकार प्रतिभा के विकास के लिए व्युत्पत्ति और अभ्यास की आवश्यकता है। इसी प्रकार का मत हेमचंद्र का भी है कि प्रतिभा काव्य का मूल कारण है और व्युत्पत्ति और अभ्यास काव्य के कारण नहीं वरन् संस्कार हैं। इनके द्वारा काव्य संबंधी प्रतिभा, परिष्कृत और विकसित होती है। हिंदी काव्यशास्त्री डॉ. नगेंद्र मानते हैं कि कवि अपनी प्रतिभा, निपुणता तथा अभ्यास के बल पर काव्य रचना करता है।

उपर्युक्त मतों से यही बात स्पष्ट होती है कि काव्य का मूल कारण प्रतिभा है और किसी-किसी रूप में उसके होने पर ही व्यक्ति काव्य की रचना कर सकता है, परंतु इस प्रसंग में एक और बात विचारणीय है। वह यह है कि क्या जन्मजात काव्य-प्रतिभा न होने पर भी प्रतिभा के संस्कार डाले जा सकते हैं। इस दृष्टिकोण के संबंध में प्रसिद्ध इटैलियन सौंदर्यशास्त्री क्रोचे का मत विचारणीय है, जो यह कहता है कि प्रत्येक मनुष्य जन्मजात कवि होता है। कोई बड़ा और कोई छोटा। प्रतिभा की बात उसकी दृष्टि से एक प्रकार का अंधविश्वास या रूढ़ि है, जो मनुष्य में काव्य-रचना की शक्ति के परिणाम में अंतर होने के कारण उत्पन्न हो गई है। क्रोचे का कथन निस्सार नहीं है। प्रत्येक मनुष्य में जिस प्रकार से बुद्धि, अनुभूति कल्पना-शक्ति होती है, परंतु प्रत्येक में उनका व्यवहार समान रीति से नहीं

होता, उसी प्रकार यह सोचा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति में किसी-किसी रूप में काव्य-प्रतिभा होती है, यह काव्य-प्रतिभा समय पाकर प्रस्फुटित होती रहती है और उसका विकास भी होता रहता है।

परिस्थितियों और प्रयत्नों के कारण जिनकी प्रतिभा जितनी ही स्वच्छ होती है, वे उतना ही उत्तम काव्य कर सकते हैं, क्योंकि प्रतिभा का विकास परिस्थितियों एवं प्रयत्नों के कारण नियंत्रित रहता है। भगीरथ मिश्र कहते हैं–इस संबंध में जो स्थिति अन्य मानसिक शक्तियों की है, वही स्थिति प्रतिभा के संबंध में कही जा सकती है। जिस प्रकार हम प्रयत्न से अनुकूल परिस्थितियां पाकर अपनी अन्य मानसिक शक्तियां बढ़ा सकते हैं, उसी प्रकार प्रतिभा को भी विकसित कर सकते हैं।

मानव-मस्तिष्क एक खेत के समान है जिस प्रकार खेत में बीज बोने पर वे अंकुरित होते हैं उसी प्रकार मानव अंत:करण में भी विभिन्न प्रकार के संस्कार डाले जा सकते हैं और काव्य-रचना के संस्कार भी उसके भीतर पड़ सकते हैं। जिसे हम काव्य-प्रतिभा कहते हैं, वह संवेदन-चेतना, कल्पना और भाषागत क्षमता का समन्वित रूप है। जहां ये तीनों ही एक साथ मिल जाती हैं, वहीं काव्य रचना कोई दुर्लभ वस्तु नहीं है। ऐसी दशा में स्वस्थ शरीर और मन वाले किसी भी व्यक्ति के अंतर्गत काव्य-रचना के बीज अंकुरित होते हैं और हो सकते हैं।

काव्य-रचना के प्रसंग में एक और पक्ष विचारणीय है, वह है प्रेरक परिस्थितियों का। इनके अंतर्गत मनुष्य की वैयक्तिक रुचि और आकांक्षा, उसकी सामाजिक और पारिवारिक स्थितियां तथा आत्माभिव्यक्ति महत्वपूर्ण है। इन प्रेरक परिस्थितियों के सम्यक रूप से सक्रिय हो जाने पर काव्य-रचना के लिए बहुत बड़ी भूमिका तैयार हो जाती है।

संस्कृत और हिंदी साहित्य इस बात का साक्षी है कि किस प्रकार काव्य का उत्कृष्ट विकास उन प्रेरक परिस्थितियों के कारण हुआ। महर्षि वाल्मीकि को क्रौंच-वध ने व्याकुल कर उनके अंतर्गत शोक के भाव-समुद्र को इतना आंदोलित कर दिया कि वह राम की आदिम गाथा रामायण के रूप में प्रकट हुआ। संस्कृत साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि कालिदास के संबंध में भी यह बात पूर्णतया सत्य है कि उनकी पत्नी के तीन प्रेरक शब्दों (अस्ति, कश्चित्, वाग्विशेष:) ने ही उन्हें तीन महान ग्रंथों की सृष्टि की प्रेरणा दी।

हिंदी साहित्य में चंद, विद्यापति, भूषण और बिहारी जैसे कवियों को उनके आश्रयदाता और नायकों के व्यक्तित्व ने जो प्रेरणा दी, उसी के परिणामस्वरूप इनकी कृतियों का निर्माण हुआ। गोस्वामी तुलसीदास, नंददास और घनानंद को भी प्रेरित करने वाले कतिपय विशिष्ट व्यक्तित्व ही थे। आधुनिक काल में भी भारतेंदु, मैथिलीशरण गुप्त, दिनकर, निराला आदि को काव्य की प्रेरणा देने में समकालीन देश और समाज की परिस्थितियों का अत्यंत प्रभाव है।

अत: कहा जा सकता है कि प्रतिभा अर्थात काव्य रचना की क्षमता विकसित की जा सकती है और उसको विकसित करने में प्रेरक परिस्थितियां, लोकशास्त्र ज्ञान तथा अभ्यास महत्वपूर्ण होते हैं। यदि हम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो यह स्वीकार करना पड़ता है कि

हमारे मनस्तत्व के अंतर्गत सभी प्रकार की प्रवृत्तियों और क्षमताओं के संस्कार विद्यमान रहते हैं। साधनों और परिस्थितियों के प्रभाव से इन संस्कारों में से कोई भी संस्कार प्रबल होकर क्रियाशील हो जाता है और परिणामस्वरूप किसी प्रकार के कार्य का सूत्रपात होता है। प्रतिभा के विश्लेषण के प्रसंग में हमने देखा है कि वह कल्पना-शक्ति, संवेद्यता और अभिव्यक्ति-क्षमता संबंधी अतिशय जागरूकता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। ये सभी शक्तियां और क्षमताएं किसी-किसी मात्रा में सभी के मस्तिष्क में विद्यमान रहती हैं। प्रायः इनका विकास प्रकृति अर्थात स्वभाव पर अवलंबित रहता है।

जिस व्यक्ति की परिस्थितियां प्रेरक हुईं और समुचित साधन भी प्राप्त हुए, साथ-साथ जो आत्मज्ञान से भी अपनी क्षमताओं के विकास संबंधी चेतना से संपन्न हुआ, वह काव्य की रचना अवश्य कर सकता है। क्रोचे के मत को इस अंश में मानना अनुचित न होगा कि काव्य-रचना के तात्विक संस्कार प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान होते हैं, इसलिए जन्म से प्रत्येक व्यक्ति कवि है। उसकी काव्य-प्रतिभा को विकास की प्रेरणा देने वाली व्यक्तिगत और सामाजिक परिस्थितियों पर ही यह निर्भर करता है कि वह बड़ा कवि होगा कि साधारण। यदि परिस्थितियों के कारण उसके मानसिक संस्कारों की स्वच्छता और स्वस्थता बनी रहती है, तो वह किसी न किसी रूप में कवि कर्म करता रह सकता है।

काव्य-रचना के प्रसंग में प्रतिभा के साथ-साथ साधना का भी महत्वपूर्ण हाथ है। प्रतिभा का विकास साधना द्वारा होता है। जागृत प्रतिभा या काव्य के संस्कार अनवरत साधना से भली-भांति प्रस्फुटित होते हैं। इसके साथ ही साथ काव्य-प्रतिभा के सुप्त संस्कार भी साधना द्वारा प्रबुद्ध होते हैं और काव्य-रचना संभव हो सकती है। साधना के लिए प्रेरक परिस्थितियों के साथ-साथ वैयक्तिक संकल्प और निष्ठा की बड़ी आवश्यकता होती है और यदि साधना के लिए दोनों ही बातें प्राप्त हो गईं, तो काव्य-प्रतिभा का समुचित विकास अवश्य होता है।

प्रतिभा एक प्रकार की मानसिक क्षमता है और उस क्षमता का उपयोग के बाद क्षीण होना भी स्वाभाविक है। ऐसी प्रेरक परिस्थितियां कवि के जीवन में नहीं रह पातीं जिनसे वह जीवन भर उत्कृष्ट काव्य की सृष्टि करता रहे। तीसरा कारण यह भी है कि बहुत से कवि काव्यगत प्रसिद्धि प्राप्त हो जाने के उपरांत स्वतः स्फूर्त रूप में नहीं, वरन किसी के कहने या अन्य बाहरी दबावों के वश कविता लिखते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कविता लिखने का निर्णय बौद्धिक आग्रह से होता है और उसी आग्रह या आवश्यकतावश कविता की रचना की जाती है। ऐसी दशा में सहज और उत्कृष्ट काव्य-रचना की आशा नहीं की जा सकती। आवश्यक यह है कि काव्य का रचयिता सच्चा और निष्ठावान हो और वह अपनी काव्य-क्षमता का उपयोग तभी करे, जब उसके अंतःकरण में रचना की वास्तविक प्रेरणा जागृत हो। ऐसा न होने पर वह अपनी प्रतिभा के प्रति सच्चा नहीं कहा जा सकता। काव्य-प्रतिभा के संबंध में यह बात स्वीकार की जा सकती है कि वह सदैव ही किसी के चाहने पर जागृत नहीं होती, उसके इसी स्वभाव के कारण उसे अलौकिक कहा गया है। जिस समय वह जागरूक रहती है उस समय काव्य का सृजन अनायास होता चलता है। जिस समय वह सचेत

नहीं है, उस समय उसको बहुत प्रयत्न करके भी, प्रस्फुरित नहीं किया जा सकता। इसलिए हमें स्पष्ट रीति से समझना चाहिए कि काव्य-प्रतिभा का संस्कार होना एक अलग वस्तु है और उस प्रतिभा को जब चाहे तब उपयोग में लाना यह उससे भिन्न वस्तु है। काव्य के संस्कार सभी में थोड़े बहुत विद्यमान रहते हैं, परंतु काव्य-प्रतिभा को हम अपनी या किसी दूसरे की इच्छा या उपयोगिता के वशीभूत होकर सक्रिय नहीं बना सकते।

रस सिद्धांत काव्यशास्त्र का मूल एवं महत्वपूर्ण सिद्धांत है। काव्यशास्त्रीय अध्ययन की परंपरा का आरंभ इसी सिद्धांत से किया जाता है। यह काव्य की आत्मा है। 'रसो वै सः' रस ही वह है। वह अर्थात् आत्मा, परमात्मा और अलौकिक शक्ति। आत्मा के अस्तित्व पर ही देह का अस्तित्व संभव है। भिन्न रूपों में उपस्थित परमात्मा की तरह यह भी भिन्न-भिन्न काव्यीय रूपों में आस्वादन का अनुभव कराता है।

काव्य शास्त्र का दूसरा महत्वपूर्ण सिद्धांत 'अलंकार सिद्धांत' है। रस आत्मा है तो अलंकार काव्य का शरीर है। अलंकार काव्य शरीर के बाह्य धर्म हैं तथा गुणालंकार के रूप में आंतरिक धर्म भी हैं इसलिए इसे काव्य की आत्मा मानने का विवाद भी चला। अलंकार शोभावर्द्धक आभूषण हैं जो काव्य की शोभा बढ़ाते हैं। 'शब्दार्थो सहितौ काव्यम्' अर्थात् शब्द और अर्थ से मिलकर काव्य बनता है। इसी को आधार बनाकर अलंकार के इन प्रकारों का अध्ययन किया गया है– शब्दालंकार, अर्थालंकार। अलंकारों का वर्गीकरण अर्थात अलंकारों के भेदों या प्रकारों के साथ 'अलंकार' की अवधारणा, विभिन्न विद्वानों द्वारा अलंकार सिद्धांत की स्थापनाओं की जानकारी इस शीर्षक के अंतर्गत प्राप्त होती है।

रीति संप्रदाय सदैव प्रासंगिक रहा है। मनुष्य जीवन हो या काव्य रचना (साहित्य रचना) जीने व रचने की कोई न कोई रीति होती है अतः काव्यशास्त्र के इस महत्वपूर्ण सिद्धांत की प्रासंगिकता बनी रहेगी। रीति काव्यात्मा नहीं हो सकती। यह एक साधन है, साध्य तक पहुंचने का। आचार्य वामन ने इसे प्रतिष्ठित करके काव्यशास्त्र पर उपकार

किया है। यह सिद्धांत अन्य लक्षणों का साथी है और सभी सिद्धांत एक दूसरे के अन्योन्याश्रित हैं।

आगे चलकर आचार्य आनंदवर्धन ने ध्वनि को काव्यात्मा घोषित किया। ध्वनि काव्यात्मा तो नहीं है लेकिन रस जो काव्यात्मा है की सहायक, उपकारक हो सकती है। ध्वनि अर्थात् व्यंजना जिसका संबंध वक्रोक्ति से भी है। अतः ध्वनि और अलंकार का घनिष्ठ संबंध है। आनंदवर्धन का ग्रंथ 'ध्वन्यालोक' प्रसिद्ध एवं महत्वपूर्ण ग्रंथ है जो ध्वनि को व्याख्यायित करता है तथा अन्य काव्य लक्षणों से इसके संबंध को दर्शाता है।

काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति सिद्धांत का स्थान विशेष महत्व का है। वक्रोक्ति, व्यंजना के माध्यम से अलंकार और ध्वनि से संबंधित है, अतः यह विस्तृत अध्ययन को आधार प्रदान करता है। आचार्य कुंतक ने 'वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्' कहकर इसे काव्य की आत्मा घोषित किया है। यह काव्यात्मा तो नहीं है लेकिन काव्यात्मा तक पहुंचने तक सर्वोत्तम साधन है। वक्रोक्ति करना, कहना, लिखना साहस और नैतिकता की मांग करता है। इसके मूल में सत्य छिपा रहता है अतः यह महत्वपूर्ण दार्शनिक व्याख्या उपस्थित करने वाला सिद्धांत है।

काव्यशास्त्र का अंतिम मान्य सिद्धांत औचित्य है जिसकी चर्चा लगभग सभी आचार्यों ने प्रथम सिद्धांत 'रस' के समय से ही की है। भरतमुनि से अद्यतन सभी आचार्य औचित्य के महत्व को स्वीकार करते हैं। यह काव्यात्मा रस की भी आत्मा माना गया है। औचित्य सिद्धांत को प्रणेता या व्यवस्थापक आचार्य माना गया है। औचित्य सिद्धांत के प्रणेता या व्यवस्थापक आचार्य क्षेमेंद्र ने 'औचित्य विचार चर्चा' में इसके संपूर्ण स्वरूप पर प्रकाश डालकर यह सिद्ध किया है कि जीवन और साहित्य के हर क्षेत्र में औचित्य आवश्यक है।

इस इकाई में हमारे अध्ययन का विषय काव्यशास्त्र का प्रथम सिद्धांत 'रस' है। इसमें हम इसकी अवधारणा, परिभाषाएं, स्वरूप, सभी रसों का परिचय, रस निष्पत्ति एवं रस के अवयवों का अध्ययन करेंगे।

2.1 इकाई के उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप-

- रस की अवधारणा एवं इसके अलौकिकत्व को समझ पाएंगे;
- रस की परिभाषा एवं स्वरूप से अवगत हो पाएंगे;
- सभी रसों से परिचित हो पाएंगे;
- रस निष्पत्ति एवं रस के अवयवों की विवेचना कर पाएंगे।

2.2 रस : अवधारणा एवं अलौकिकत्व

जिस तरह से बहुत से रूपों में परब्रह्म प्रकट होकर भक्तों और ज्ञानियों एवं मुमुक्षुओं को आश्चर्यचकित कर देता है उसी तरह रस भी काव्य में आविर्भूत होकर सहृदयों को खुशी देता है। साहित्य में सभी प्रकार के अंगों, वेद, वेदांग, ब्राह्मण उपनिषद्, आयुर्वेदशास्त्र, रामायण और महाभारत आदि में रस अलग-अलग अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

हेमकोष के अनुसार–

"रसः स्वादे, जले वीर्ये, शृङ्गारादौ विषे द्रवे।
रागे गृहे तथा धातौ तिक्तादौ पारदेऽपि च॥

स्वाद, जल, वीर्य, शृंगारादि रस, विष, द्रव, पारद, राग, गृह, धातु, तिक्त ये सभी रस से जाने जाते हैं।

रस का निर्वचन शब्द-प्रधान व्याकरणशास्त्र में चार तरह से हुआ है–

1. **रस्यते आस्वाद्यते इति रसः** – इस व्युत्पति के अनुसार जो पदार्थ आस्वाद के विषय बनते हैं, उन्हें रस नाम से अभिहित किया जाता है जैसे– परमात्मरूप रस (साधन का रस) मधुर, अम्ल, कटु, कषाय, तिक्त आदि भोज्य पदार्थों एवं सोम, गन्ध, मधु आदि वस्तुओं को भी रस नाम से जाना जाता है।
2. **रस्यते अनेन इति रसः** – इस व्युत्पत्ति के अनुसार आस्वाद कराने वाले पदार्थ रस शब्द से विदित होते हैं यथा-शब्द राग, संगीत, वाद्य, वीर्य शरीर आदि रस पद-बोध्य हैं।
3. **रसति रसयति वा रसः** – जो व्याप्त हो जाता है या स्वयं सभी को व्याप्त कर लेता है, वह भी 'रस' पद बोध्य होता है। यथा-पारद, जल, शरीर को पुष्ट बनाने वाली धातु या अन्य द्रव्य सभी रस होते हैं–
4. **रसनं रसः आस्वादः** – जो आस्वाद स्वरूप है, उसे रस कहते हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार शृंगार, हास्य, करुण आदि को रस कहा जाता है क्योंकि सहृदयों द्वारा उनका आस्वाद किया जाता है।

विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव तथा स्थायी भाव का स्वरूप

विभाव

विभाव सहृयामानस में स्थायी रूप से रहने वाले रति आदि स्थायी भावों को उद्‌बुद्ध एवं उत्पन्न करते हैं। इसीलिए वे विभाव कहलाते हैं। साथ ही कहा गया है–

विभावयन्ति इति विभावाः इस व्युत्पत्ति के अनुसार भी विभाव शब्द की सार्थकता स्पष्ट हो जाती है। स्थायी भावों को उद्‌बुद्ध एवं उत्पन्न करने के कारण ही विभाव के दो भेद होते हैं-

1. **आलम्बन विभाव**–जिनका आलम्बन लेकर रति आदि स्थायी भाव उद्‌बुद्ध होते हैं, वे नायक-नायिकादि आलम्बन विभाव कहलाते हैं।
2. **उद्दीपन विभाव**–आलम्बन द्वारा उद्‌बुद्ध भावों को जो उद्दीप्त करते हैं, वे उपवन, सुधाकर, कमलाकर, चारू-चन्द्रिका, वाद्य-वीणा मलयसमीरादि उद्दीपन विभाव कहलाते हैं।

अनुभाव

सहृदय-हृदय में रति आदि स्थायी भावों को जो उद्‌बुद्ध एवं उद्दीप्त होने पर अपने आप से जो शारीरिक विकास एवं आङ्गिक चेष्टाएं होने लगती हैं। हृदय के आन्तरिक भाव मुख आदि अङ्गों पर नर्तन करने लगते हैं। नयनों में विचित्र-भाङ्गिमाएं होने लगती हैं। वस्तुतः ये अश्रु,

स्वेद, रोमांच, कम्पनादि शारीरिक विकार एवं भ्रूभङ्ग कटाक्ष-विक्षेपादि शारीरिक चेष्टाएं ही अनुभाव कहलाती हैं।

1. सात्विक अनुभाव : ये संख्या में आठ होते हैं।

जैसे–स्वेद स्तम्भोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः। वेवर्ण्यम् अश्रु प्रलयः इत्यष्टौ सात्त्विकाः मताः।

स्वेद, स्तम्भ, रोमांच, स्वरभङ्ग, वेपुथ, वैवर्ण्य, अश्रु तथा प्रलय- ये आठ सात्विक भाव होते हैं।

2. कायिक अनुभाव : भू-अङ्ग, कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि कायिक अनुभाव होते हैं।

3. वाचिक अनुभाव : मधुर वचन तथा वाणी के अन्य प्रकार वाचिक अनुभाव होते हैं।

व्यभिचारी भाव

व्यभिचारी भाव रति इत्यादि स्थायी भावों को पुष्ट करते हुए उनकी अभिव्यक्ति में सहकारी होते हैं। चिन्ता, औत्सुक्य आदि का भाव काव्य तथा नाटक से संचारी कहलाते हैं। किसी भी रस के साथ इनका निश्चित सम्बन्ध नहीं होता। इनमें कोई एक भी कई रसों का उपकारक हो सकता है। इसलिए अनेक रसों में व्यभिचरण (संचरण) करने के कारण ही ये संचारी भाव या व्यभिचारी भाव कहलाते हैं।

व्यभिचारी भाव संख्या में 33 होते हैं– विर्वेद, ग्लानि, शङ्का, असूया, मद, श्रम, आलस्य दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीड़, चपलता, हर्ष, आवेग, जाड्य, गर्व, विषाद, औत्सुक्त्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्त, प्रबोध, अमर्ष, अविहत्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, भरण, त्रास, वितर्व।

इस प्रकार ये 33 व्यभिचारी भाव होते हैं।

स्थायी भाव

मनुष्य के हृदय में होने वाले मानस-संस्कार या वासना को ही भाव कहते हैं जो हर मनुष्य के हृदय में चित्रवृत्ति की तरह सोयी हुई अवस्था में विद्यमान रहते हैं और जैसे ही अवसर मिलता है ये जाग्रत हो जाते हैं। ये वासना रूपी भाव मनुष्य के हृदय में लगातार स्थायी रूप से विद्यमान रहते हैं, इसलिए इन्हें स्थायी भाव कहते हैं। मानव की सभी चेष्टाओं का आधार ये स्थायी भाव ही हैं। आचार्य धनञ्जय ने स्थायी भाव को साक्षात् लवणाकार के समान कहा है। जैसे लवणाकार में डाला गया प्रत्येक पदार्थ नमक ही बन जाता है, वैसे ही जो विरुद्ध या अविरुद्ध भावों से विच्छन्न न होता हुआ दूसरे पदार्थों को आत्मसात कर लेता है, उसे स्थायी भाव कहते हैं।

स्थायी भाव रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय तथा शम के भेद से कुल नौ प्रकार का होता है।

रस-निष्पत्ति-विषयक प्रमुख चार मत

रस के विषय में महामुनि भरत की मान्यता अलङ्कारशास्त्र के लिए अमूल्य देन है।

महामुनि भरत की यह परिभाषा–

विभावनुभावव्यभिचारिसंयो

अर्थात्, विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भरत की यह मान्यता अलङ्कारशास्त्र के आचार्यों के लिए एक आदर्श है। आगे आने वाले आचार्यों ने इसी आधार पर अपनी-अपनी विचारधाराओं को विशदता प्रदान की–

प्रथम मत : आचार्य भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद

आचार्य भट्टलोल्लट उत्पत्तिवादी हैं। उन्होंने भरत के रस-सूत्र की व्याख्या अद्भुत ढंग से की। भट्टलोल्लट विभाव एवं व्यभिचारी भावों के संयोग से अनुकार्य रामादि में रस की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं।

वेदान्त की यह मान्यता भट्टलोल्लट की मान्यता का आधार है। जिस प्रकार वास्तविक सर्प के विद्यमान न होने पर भी अज्ञानवश रज्जु को सर्प समझकर भय आदि कार्यों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार से रामादि में स्थित भाव के नट में वास्तविक रूप में न होने पर भी अनुकरण आदि के चातुर्य से सामाजिक उसे भ्रमवश वास्तविक ही समझ बैठते हैं। फलस्वरूप उससे सामाजिक के हृदय में भी एक चमत्कार का उदय होने लगता है। भट्टलोल्लट के अनुसार यह चमत्कार ही रस है। इस भांति आचार्य भट्टलोल्लट के अनुसार रस मुख्य रूप से अनुकार्य रामादि में रहता है। परन्तु अनुकरण आदि की कुशलता से नट में भी उसकी प्रतीति होने लगती है।

द्वितीय मत : आचार्य शंकुक का अनुमितिवाद

शंकुक ने भरत के रस-सूत्र की व्याख्या अभिनव रूप में की। उसके अनुसार विभाव, अनुभाव और संचारी भाव रस के अनुमापक होते हैं और रस 'अनुमाप्य' होता है। इसलिए उसके अनुसार संयोगात् का अर्थ अनुमाप्य-अनुमापकभावत् तथा निष्पत्ति का अर्थ अनुमिति होता है।

आचार्य शंकुक का अनुमितिवाद न्यायमतानुसारी है। प्रमाण-शास्त्र होने के नाते न्याय में अनुमिति की प्रधानता स्वीकार की गई। जिस भांति नैयायिक कुहरे को धुंआ समझकर वहीं अग्नि का अनुमान कर लेते हैं उसी भांति आचार्य शंकुक के अनुसार नट में वास्तविक रस के न रहने पर भी अभिनय-कौशल से उसमें रामादिगत रति का अनुमान कर लिया जाता है। इसमें एक विलक्षता होती है। इसलिए आचार्य मम्मट ने शंकुक के अनुमितिवाद को प्रस्तुत करते समय-अन्यानुमीयमान विलक्षणः शब्द का प्रयोग किया है। यद्यपि नट के विभावादि कृत्रिम होते हैं, किन्तु अभिनय कुशलता के कारण वे कृत्रिम से नहीं लगते। आचार्य मम्मट ने-कृत्रिमैरपि तथा अनभिमन्यमानैः कहकर इसी अभिप्राय को घोषित किया है। श्री शंकुक के अनुसार सामाजिक के रसास्वाद का कारण उसकी वासना संस्कार के बल से अनुमीयमान रस सामाजिक की चर्वणा का विषय बन जाता है।

तृतीय मत : आचार्य भट्टनायक का भुक्तिवाद

आचार्य भट्टनायक ने भरत के रससूत्र की व्याख्या कर एक नवीन उद्भावना को जन्म दिया। वे सामाजिक में रस की स्थिति स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार रस भोज्य है तथा विभावादि उसके भोजक हैं। अतः उनके अनुसार संयोगात का अर्थ भोज्य-भोजकभावात् एवं निष्पत्ति का अर्थ मुक्ति है। भट्टनायक ने रस सम्बन्धी अन्य मान्यताओं का निराकरण किया है। भट्टलोल्लट मुख्य रूप से तटस्थ रामादि में गौण रूप से तटस्थ नट आदि में रसोत्पत्ति

स्वीकार करते हैं। परन्तु इसमें सामाजिक के लिए कोई स्थान नहीं। सामाजिक की रसानुभूति कैसी होगी? यह प्रश्न बना ही रहता है। अतः 'तादस्थ्येन रसोत्पत्तिः मानने वाले भट्टलोल्लट का मत समीचीन नहीं।

इसी भांति शंकुक ने भी तटस्थ नट में रस की अनुमिति प्रतीति मानी है और उसके द्वारा संस्कार-वश सामाजिक में रस-चर्वण का उल्लेख किया है। भट्टनायक को शंकुक का मत भी स्वीकार नहीं, क्योंकि परोक्ष ज्ञान रूप अनुमिति से साक्षात्कारात्मक रसानुभूति नहीं हो सकती है।

चतुर्थ मत : आचार्य अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

भरत के रससूत्र की सर्वाधिक सङ्गत एवं सर्वमान्य व्याख्या आचार्य अभिनवगुप्त ने प्रस्तुत की। अभिनवगुप्त व्यञ्जनावादी हैं। उनकी दृष्टि में रस व्यङ्ग्य है और विभावादि उसके व्यञ्जक है। अतः उनके अनुसार संयोगात् का अर्थ व्यङ्ग्य व्यञ्जकभावात तथा निष्पत्ति का अभिप्राय 'अभिव्यक्ति' होता है। आचार्य अभिनवगुप्त की मान्यता में यह विशेषता है कि वे सहृदय के मानस में विद्यमान स्थायी भाव को रसानुभूति कराने में निमित्त मानते हैं।

सहृदय के हृदय में वासना या संस्कार रूप में रति आदि स्थायी भाव विद्यमान रहता है। यही स्थायी भाव साधारण रूप में प्रतीत होने वाले विभावादि के द्वारा अभिव्यक्त होकर हृदय मात्र के आस्वाद का विषय बन जाता है। यह आस्वाद ही रस है, यह आस्वाद साक्षात् ब्रह्मस्वाद के सदृश होता है।

आचार्य अभिनवगुप्त रसाभिव्यक्ति में व्यञ्जना व्यापार एवं साधारणीकरण की प्रमुखता स्वीकार करते हैं। वे भट्टनायक के 'भावकत्व' एवं भोजकत्व व्यापार को प्रामाणिक नहीं मानते। आचार्य अभिनवगुप्त ने भावकत्व व्यापार के स्थान पर साधारणीकरण व्यापार को माना है।

आचार्य अभिनवगुप्त रस की अलौकिकता स्वीकार करते हैं। रस अपरिमित होता है। उसकी कोई इयत्ता नहीं होती। रस में यह विलक्षणता है कि वह न तो विभावादि की योजना से पूर्व विद्यमान रहता है और न ही विभावादि के पश्चात् उसकी सत्ता रहती है। स्पष्ट है कि अन्य सभी आचार्यों की अपेक्षा आचार्य अभिनवगुप्त का मत ही अधिक समीचीन एवं मनोवैज्ञानिक है।

रस का अलौकिकत्व

मनुष्य के जीवन का एक मात्र सार रस है। मनुष्य के जितने भी कार्य आदि होते हैं उन सभी का उदय, तथा विकास सभी कुछ रस में अन्तर्निहित है मानव की साध्य और सिद्धावस्था भी रस स्वरूप है। कहने का तात्पर्य है कि सृष्टि का चराचर रसमय है। महामुनि भरत ने इसी उपर्युक्त तथ्य को निम्न प्रकार से अभिव्यक्त किया है–

न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।

काव्य-मर्मज्ञों ने रस को ब्रह्मस्वाद-सहोदर कहकर महिमान्वित किया है। काव्यानन्द का आस्वाद मनुष्य का सबसे बड़ा सौभाग्य है इसीलिए महामुनि भरत ने कहा है- "सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम"। ब्रह्मनन्द सहोदर होने के कारण रस को लक्षण एवं परिभाषाओं की सीमा में नहीं बांधा जा सकता। वस्तुतः भाव प्रधान तत्व के स्वरूप को निरूपित करना नितान्त

असम्भव है। उसका गूंगे के समान बस आस्वाद ही किया जा सकता है। अतएव साहित्य-समीक्षकों ने रस को वेद्यान्तर सम्पर्क शून्य, अखंड चिन्मय एवं स्वयंप्रकाश बताकर समस्त भारतीय काव्यशास्त्र का समीक्षा-सिद्धान्त रस को ही प्रमुख मानदंड के रूप में स्वीकार किया है।

2.3 रस की परिभाषाएं एवं स्वरूप

रस एक अलौकिक स्थिति है, आत्मानुभूति है, ब्रह्मानंद सहोदर है। काव्य के सृजन, पठन, श्रवण और देखने से सर्जक, दर्शक, पाठक और श्रोता उस भाव-भूमि पर पहुंच जाता है, जहां पर केवल निर्विकल्प, निर्लेप, शुद्ध आनंदमयी चेतना का ही साम्राज्य होता है। उस भावभूमि को प्राप्त कर लेने की स्थिति का नाम ही रस है।

काव्य सहृदय सामाजिक को या सर्जक को रस की भावभूमि पर पहुंचाकर ही सार्थक होता है। यदि वह ऐसा करने में, इस भावदशा तक पहुंचाने में असमर्थ है तो वह काव्य कहलाने का अधिकारी नहीं। उस शुद्ध, आनंदमयी स्थिति तक पहुंचने के लिए सर्जक एवं सहृदय को भी निर्मल हृदय का अधिकारी होना चाहिए। वह दुर्बल सांसारिक बंधनों की उपेक्षा कर काव्य के पठन, सृजन, श्रवण में डूब जाए तभी उस भाव भूमि तक पहुंच सकता है। अन्यथा मोह-माया के, छल-कपट के व्यापार में रमा हृदय उसे उस आनंदानुभूति से विरक्त या दूर ही रखेगा। प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने इसलिए बार-बार काव्य के साथ 'सहृदय' शब्द का प्रयोग किया है। कुछ आचार्यों जैसे अभिनवगुप्त, मम्मट आदि ने 'स्व' के परित्याग की ओर ध्यान आकर्षित कराया है यह और बात है कि रस की व्याख्या करते हुए वे इसका निर्वाह नहीं कर पाए।

काव्य में निहित भाव एवं कवि अपने विचारों का जिस हृदयग्राही रीति से मर्मस्पर्शी निरूपण करता है वही सहृदय सामाजिक को उस भाव दशा तक ले जाता है। कुछ काव्य की अपनी शक्ति और कुछ सहृदयता पाठक के हृदय की, भावों की स्थिति एवं प्रवृत्ति ही सहृदय को उस आनंद सरोवर तक ले जाती है। जब सहृदय सामाजिक आनंदानुभूति की उस चरम स्थिति में पहुंच जाता है तो उसे उस निर्विकल्प अवस्था में यह ज्ञान ही नहीं रहता कि वह किस रस का अनुभव कर रहा है। शृंगार, करुण या वात्सल्य रस का...। उसकी अवस्था ध्यानस्थ योगी जैसी होती है जो आत्म-प्रकाश से प्रकाशमान हो, जिसमें केवल आत्म-स्वरूप सत्ता ही शेष हो। वह केवल हृदय ही हृदय, आत्म ही आत्म होता है शेष बाह्यावरण लुप्त हो जाते हैं।

रसमग्न, ध्यानस्थ, आनंदमग्न उस योगी के 'सत् और चित्' स्वरूप भी इस आनंद की छाया में लुप्त हो जाते हैं। धरती, आकाश, जड़-चेतन आदि प्रकृति की सभी चेष्टाएं तिरोहित हो जाती हैं। इसलिए आचार्य विश्वनाथ इस स्थिति के लिए 'सत्योद्रेक' की बात कहते हैं। इस अवस्था को ही 'रस' का नाम दिया गया है। विभिन्न आचार्यों ने अपनी रुचि, प्रतिभा एवं दृष्टिकोण के आधार पर रस के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। अभिनवगुप्त इसे आनंदमयी चेतना कहते हैं तथा स्थायी भाव से विलक्षण स्वरूप वाला मानते हैं।

काव्यशास्त्रीय दृष्टि से रस परंपरा का प्रामाणिक ग्रंथ नाट्यशास्त्र को माना जाता है जिसे पांचवां वेद भी स्वीकार किया गया है। इसके प्रणेता आचार्य भरतमुनि रस की महत्ता को

प्रतिपादित करने वाले प्रथम आचार्य माने गए हैं यद्यपि इनसे पूर्व रस की चर्चा करने के संबंध में आचार्य नंदिकेश्वर एवं उनके ग्रंथ अभिनवदर्पण का उल्लेख किया जाता है किंतु इनके अप्रामाणिक एवं अप्राप्य होने के कारण भरत का 'नाट्यशास्त्र' ही रस संबंधी प्रथम ग्रंथ ठहरता है। रस के महत्व को रेखांकित करते हुए छठे अध्याय में रस और सातवें अध्याय में विभाव, अनुभाव आदि का विवेचन करते हुए भरतमुनि ने कहा है–

- नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।
- विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः।
- एवं भावा रसाश्चैव भावयन्ति परस्परम्।
- एवमेतेह्यऽलंकारा गुणा दोषाश्च कीर्तिताः। प्रयोगमेषां च पुनर्वक्ष्यामि रससंश्रयम्।

यहां रस को संगीत, अभिनय एवं पाठ्य या वस्तु तत्व, इन तीनों अंगों का नियंता स्वीकार किया गया है। काव्य के सभी तत्व रसों पर आश्रित होते हैं। रस के बिना किसी की किसी में प्रवृत्ति नहीं होती। भरतमुनि कहते हैं कि आस्वादमय होने के कारण ही उसे रस की संज्ञा प्राप्त है, **'आस्वादनात्मानुभवः रसः काव्यार्थ इष्यते।'** रस आस्वादन स्वरूप अनुभव है और वही काव्यार्थ है।

जिस प्रकार नाना व्यंजनों एवं औषधि आदि के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है, उसी तरह नाना भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है– **"यथा नाना व्यञ्जनौषधि द्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिर्भवति यथा गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरोषधिभिश्च षाडवादयो रसा निवर्तन्ते तथा नानाभावोपगता अपि।"** भरतमुनि ने चार प्रधान रस ही स्वीकार किए हैं– शृंगार, रौद्र, वीर और वीभत्स रस। पुनः शृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत एवं वीभत्स से भयानक, इस तरह उन्होंने कुल आठ रस स्वीकार किए हैं। नौवां शांत रस बाद में स्वीकृत हुआ किंतु इसमें अभिनय करना संभव नहीं है। **'शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य।'** कहकर दशरूपककार ने भी इसे नाटक के लिए अस्वीकृत किया। रुद्रट ने काव्यालंकार में 'प्रेयाम्' नामक दसवें रस की चर्चा की गई है तथा साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने वात्सल्य रस को मान्यता प्रदान की है।

रौद्रः शान्तः प्रेयानितिमन्तव्याः रसाः सर्वे।

स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।।

रसवादी आचार्य विश्वनाथ ने **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** कहकर रस को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया है। रुद्रट रस को काव्यात्मा मानते हैं तथा राजशेखर ने भी रस को काव्यात्मा मानते हुए काव्यमीमांसा में लिखा है–"रस आत्मा रोमाणि छन्दांसि।" अग्निपुराण में भी ऐसा ही उल्लेख है–**'वाग्वैदग्ध्य रस एवात्र जीवितम्।'** काव्य में रस का महत्व और काव्यात्मा के रूप में रस का स्थान दृढ़ से सुदृढ़ होता गया।

आचार्य भरतमुनि के रस सूत्र–'विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' की चार टीकाकारों ने अपने-अपने तरीके से व्याख्या की। भट्टलोल्लट ने 'निष्पत्ति' शब्द को 'उत्पत्ति' के अर्थ में लेते हुए 'उत्पत्तिवाद' की प्रतिष्ठा की वहीं शंकुक ने रस को अनुमान का विषय बताते हुए 'निष्पत्ति' का अर्थ अनुमिति के रूप में लिया और 'अनुमितिवाद' की स्थापना की। भट्टनायक ने निष्पत्ति शब्द को भुक्ति के अर्थ में तथा संयोग शब्द को भोज्य-भोजक संबंध के रूप में मानते हुए भुक्तिवाद की स्थापना की। ये तीनों वाद स्वीकार्य नहीं हुए।

अभिनवगुप्त ने अभिव्यंजना की चर्चा की जो सर्वमान्य हुई। उन्होंने संयोग शब्द को व्यंग्यव्यंजक भाव तथा निष्पत्ति को अभिव्यक्ति या व्यंजना के अर्थ में लिखा। उन्होंने कहा कि प्रत्येक के हृदय में प्रेम, शोक, भय, घृणा आदि वासनाएं स्थायी भाव के रूप में रहती हैं। सभी सहृदयों के हृदय में स्थित सुप्त स्थायी भाव विभावादिकों को ग्रहण करके रसानुभूति से सिक्त हो जाते हैं और आनंद का अनुभव करते हैं। अभिनवगुप्त ने कहा–**"नाट्य-रसाःस्मृताः। सर्वानुग्राहकं हि, शास्त्रमितिन्यायात्तेन नाट्य एव रसा न लोके इत्यर्थः। काव्यं च नाट्यमेवा।"**

रसानुभूति की आवश्यक शर्त है सहृदय होना। जो सहृदय है वह अपनी संवेदनाओं से प्रकृति के जड़-चेतन सभी के सुख-दुख को अनुभव कर सकता है। सरस प्रकृति के भीतर परमात्मा की उपस्थिति को अनुभव कर सकता है, वह रसानुभूति में डूबकर ब्रह्मानंद को प्राप्त कर सकता है। रसानुभूति से पाया हुआ ब्रह्मानंद हृदय को शांति और मुख पर कांति बिखेर देता है। वामन कहते हैं–**दीप्तरसत्वं कांतिः**। मम्मट भी रस के महत्व को स्वीकार करते हैं।

भोज ने 'शृंगारप्रकाश' में केवल एक रस शृंगार को ही मान्यता दी है। वे कहते हैं-शृंगार का रूप अभिमान और अहंकार जैसा ही है। **रसोभिमानोऽहंकारः शृंगार इति गीयते।** भानुदत्त मिश्र ने रसतरंगिणी और रसमंजरी में रसों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। माणिक्य चंद्र कहते हैं–**'काव्यं रसादिमद्वाक्यं श्रुतं सुखविशेषकृत्।'** अर्थात एक विशेष प्रकार का सुख पैदा करने वाला रस आदि से भरा वाक्य काव्य कहा जाता है। रस काव्य की आत्मा है, यह निर्विवाद होता चला गया। काव्य में औचित्य से रसानुभूति होती है जिससे चमत्कार उत्पन्न होता है। अनौचित्य से रसभंग होता है। सिद्धांत चाहे कोई भी हो–औचित्य, चमत्कार, अलंकार, वक्रोक्ति, रीति सभी के मूल में महत्व रस का ही है। बलदेव उपाध्याय ने नारायण पंडित के विचारों को उद्धृत किया है **"रसो सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते"** अर्थात रस चित्त विस्तार या आनंद का जनक होता है अतः रसानुभूति चमत्कार रूपिणी होती है। अभिनवगुप्त ध्वन्यालोक लोचन में रस को चमत्कार की आत्मा कहते हैं। लोचनकार सत्य कहते हैं, रस के बिना चमत्कार संभव नहीं है। विश्वेश्वर पांडेय ने रसचंद्रिका में रसों पर विस्तृत चर्चा की है। रुद्रभट्ट ध्वनिपूर्व रसवादी धारा के अंतिम आचार्य माने जाते हैं। उन्होंने शृंगार रस को रेखांकित करते हुए लिखा है–"यामिनी वेन्दुना युक्ता नारीव रमणं विना। लक्ष्मीरिव कृते त्यागान्नो वाणी भाति नीरसाः।"

अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतौत भी रसवादी धारा के संवर्धन में सहयोगी बने। आचार्य भरतमुनि से पंडितराज जगन्नाथ तक रसवादी आचार्यों की सुदीर्घ परंपरा दृष्टिगोचर होती है। पंडितराज जगन्नाथ लिखते हैं–'एवं पञ्चात्मके ध्वनौ परम रमणीयतया रसध्वनेस्तदात्मा रसस्तावदभिधीयते।' इस रस का एक रूप भक्ति रस के रूप में हमें रूप गोस्वामी की उज्ज्वल नीलमणि में मिलता है। इसमें भक्ति के पांच प्रकार–शांत, हास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य माने गए हैं। ये सभी भाव कृष्ण को समर्पित हैं। माधुर्य भाव को भक्ति रसराट् कहते हैं। रसवादी आचार्यों की भिन्न-भिन्न मान्यताओं के साथ रसवाद पुष्ट और विकसित होता गया।

आचार्य विश्वनाथ के विवेचन में रस का संपूर्ण स्वरूप समाहित हो गया है। आचार्य विश्वनाथ का कथन इस प्रकार है–

सत्वोद्रेक अखण्ड–स्वप्रकाशानन्द चिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः।

लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥

उपर्युक्त श्लोकों से रस के स्वरूप निर्धारण में निम्न बिंदु स्पष्ट होते हैं–

1. सहृदय के हृदय में सत्व गुण के उद्रेक के पश्चात रस का स्वरूप स्पष्ट होता है
2. रस अखंड होता है।
3. रस स्वप्रकाशानंद है।
4. रस चिन्मय होता है।
5. रस लोकोत्तर चमत्कारप्राण होता है।
6. रस ब्रह्मानंद के समान है।
7. रस अन्य सभी प्रकार के ज्ञान से अस्पष्ट होता है।
8. रस सामाजिक से अभिन्न रूप होता है।

समस्त बिंदुओं को इस प्रकार व्याख्यायित किया जा सकता है–

(1) सत्वोद्रेक–सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति त्रिगुणात्मक होती है। ये तीन गुण हैं– (1) सत्व गुण, (2) रजोगुण और (3) तमोगुण। सत्व गुण अधिकतर रजोगुण और तमोगुण से आच्छादित रहता है। सत्व गुण ही व्यक्ति को शुद्ध-बुद्ध आत्मा (पुरुष) को पहचानने की क्षमता प्रदान करता है। आत्मा का निर्मल स्वरूप भी सत्व गुण के प्राधान्य में अभिव्यक्त होता है। फलतः आचार्य ने सर्वप्रथम रस के स्वरूप के लिए सामाजिक में सत्व गुण के आविर्भाव को प्रमुखता प्रदान की है। सत्व गुण के उद्रिक्त होने पर व्यक्ति राग-द्वेष से मुक्त होने लगता है और रसास्वाद के लिए राग-द्वेष से मुक्ति प्राप्त करना पहली अनिवार्य शर्त है।

(2) रस अखंड है–विश्वनाथ रस की कोटियां या उसके उच्च, मध्यम या निम्न जैसे स्तर स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार रस आनंदमयी चेतना है। फलतः उसके खंड नहीं किए जा सकते। डॉ. नगेंद्र के अनुसार, इसकी व्याख्याएं भी की जा सकती हैं कि रस स्थिति में विभावादि की पृथक-पृथक अनुभूति नहीं होती, बल्कि उनकी समंजित अनुभूति होती है। वस्तुतः विभावादि तो रस स्थिति उत्पन्न करने के सहायक उपकरण मात्र हैं। अतः रस स्थिति में इनके अनुभव का तो प्रश्न ही नहीं उठता। अतः स्पष्ट है कि अखंड से तात्पर्य आत्मानुभूति की पूर्णता से है।

(3) रस स्वप्रकाशानंद है–विश्वनाथ का स्वप्रकाशानंद से तात्पर्य है–आत्मा का प्राकृतिक मलों से विनिर्मुक्त होना, क्योंकि आत्मा प्रकाशमयी चेतन सत्ता है, किंतु जिस प्रकार मेघाच्छादित सूर्य की आभा मलिन प्रतीत होती है, उसी प्रकार आत्मा के प्रकाश को भी मलाच्छादित होने के कारण सामाजिक अवलोकन या अनुभव नहीं कर पाता। रस-दशा में वे मल तिरोहित हो जाते हैं और उस समय केवल आत्मा अपने मूल रूप में प्रकाशित होने लगती है। आत्मा के प्रकाशमान स्वरूप का ही नाम आनंद है।

(4) रस चिन्मय होता है–विश्वनाथ का चिन्मय से तात्पर्य आत्म-स्वरूप से है। रस स्थिति आत्म-स्वरूप स्थिति है। जहां केवल शुद्ध-बुद्ध आत्मा ही व्यक्त रहती है

शेष सभी मलों का तिरोभाव हो जाता है। ऐसी स्थिति में रस और आत्मा में कोई अंतर नहीं रह जाता। इसीलिए उपनिषदकारों ने 'रसौ वै सः' कहकर रस की चिन्मयता की घोषणा बहुत पहले ही कर दी है। उस समय जब रस चिन्मय स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, तब लौकिक ऐंद्रिय मूल या अनुभूतियों के लिए अवकाश नहीं रह जाता।

(5) **वेद्यांतर स्पर्शशून्य**–अन्य सभी प्रकार के ज्ञान का अभाव ही रस स्थिति का भाव है। कहने का तात्पर्य यह है कि रस की स्थिति में प्रमाता में स्व, पर, तटस्थ आदि की अनुभूति का तिरोभाव हो जाता है। अर्थात उस दशा में प्रमाता देशकाल की परिधि को लांघ जाता है और आत्मलीन हो जाता है। उस स्थिति में तन्मयता के अतिरिक्त अन्य समस्त ज्ञान कुछ समय के लिए समाप्त हो जाते हैं। समस्त जड़ चेतन समुदाय ब्रह्ममय दृष्टिगत होने लगता है।

(6) **ब्रह्मानंद सहोदर**–विश्वनाथ ने काव्यानंद या काव्य रस के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि काव्यास्वाद और ब्रह्मानंद में कोई तात्विक अंतर नहीं है। अंतर केवल अवधि का है। ब्रह्मानंद स्थायी होता है जिसका एक बार आस्वादन कर लिए जाने के पश्चात् वह आस्वाद कभी समाप्त नहीं होता, जबकि काव्यास्वाद अस्थायी होता है क्योंकि काव्यादि की सहायता से मलों का तिरोभाव ही होता है, उनका समूल नाश नहीं होता। फलतः काव्योपकरणों के अभाव में मलों का पुनः आविर्भाव हो जाता है और सहृदय पुनः इस लौकिक जगत में प्रवेश कर जाता है। काव्यास्वाद सरल एवं शीघ्राधिगम्य तो होता है, किंतु स्थायी नहीं हो पाता। इसलिए विश्वनाथ ने रस को 'ब्रह्मास्वाद' न कहकर 'ब्रह्मानंद सहोदर' कहा है।

(7) **लोकोत्तर चमत्कार-प्राण**–रस में पाया जाने वाला चमत्कार लौकिक न होकर अलौकिक होता है। इसलिए रस को पूर्णतया परिभाषित नहीं किया जा सकता और ब्रह्मानंद सहोदर होने के कारण अनेक आचार्य इसे अनिर्वचनीय भी कह देते हैं। वस्तुतः यहां पर इसीलिए विश्वनाथ ने 'अलौकिक' शब्द का प्रयोग न कर 'लोकोत्तर' शब्द का प्रयोग किया है और संभवतः यहां 'लोक' शब्द से आचार्य का मन्तव्य 'इंद्रिय' से रहा है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि रसोद्गत चमत्कार इंद्रिय अनुभव से परे की वस्तु है, क्योंकि लौकिक चमत्कार का अनुभव इंद्रियों द्वारा किया जाता है, किंतु रस चमत्कार के लिए इंद्रियों के प्रवेश का अवसर नहीं रहता। अतः यह एक ऐसा चमत्कार है जो इंद्रियानुभूत नहीं होता। फलतः यह चमत्कार लोकोत्तर है और यही लोकोत्तर चमत्कार रस का प्राणभूत तत्व है।

(8) **स्वाकारवदभिन्नत्व**–रस की स्थिति अपने स्वरूप से अभिन्न रूप में होती है। इसका तात्पर्य यह है कि आस्वाद और रस कोई दो भिन्न-भिन्न तत्व नहीं हैं, जिस प्रकार आत्मा या परमात्मा के 'सत्, चित् और आनंद' कोई भिन्न तत्व नहीं हैं। ब्रह्म सच्चिदानंद है और सच्चिदानंद का नाम ही ब्रह्म है। इसी प्रकार रस का नाम ही आस्वाद और आस्वाद ही रस है। अर्थात रस अनुभूति का विषय नहीं है बल्कि अनुभूति ही स्वयं रस है। इस प्रसंग में अनुभूति भी अनुभव करने की कोई वृति नहीं है अपितु अनुभूति ही आत्मा है। अनुभूति का स्वयं प्रकाशमान स्वरूप ही आनंद का

पर्याय है। 'आनंद' कोई अनुभव करने का विषय नहीं है, बल्कि आचार्य शुक्ल के शब्दों में 'हृदय की मुक्तावस्था ही आनंद है और यही रस है।'

परवर्ती आचार्यों में पंडितराज जगन्नाथ ने आनंद की तीन कोटियां मानी हैं–(1) विषयानंद (लौकिक सुख), (2) ब्रह्मानंद और (3) काव्यानंद।

पंडितराज के अनुसार–

(1) विषयानंद चेतना से आभासित अंत:करण की वृत्तियों के विषय के साथ सामंजस्य से व्युत्पन्न होता है तथा एंद्रिक होता है।

(2) ब्रह्मानंद में समस्त सांसारिक उपाधियों का नाश होकर केवल चैतन्य-स्वरूप का भाव ही आनंद स्वरूप होता है।

(3) काव्यानंद रति आदि भावों की उपाधि बने रहने पर भी चैतन्य स्वरूप का आभास है।

'आनंद' आत्मा का स्वरूप एवं एक मुक्त प्राकृतिक, नैसर्गिक स्थिति है। काव्यानंद एवं ब्रह्मानंद में अंतर है। काव्यानंद में चित्त के विकार छिप जाते हैं। लुप्त होते हैं लेकिन बाद में उनके प्रत्यक्ष होने की संभावना शेष रहती है जबकि ब्रह्मानंद में विकारों का नाश हो जाता है और उनके प्रत्यक्षीकरण की कोई संभावना शेष नहीं रहती। ब्रह्मानंद को इसलिए चरम स्थिति माना गया है। काव्य में सांसारिक दुख भी सुख बनकर उपस्थित होता है इसलिए करुण रस के काव्य के दुखद वर्णनों को भी हम बार-बार पढ़ते हैं। पढ़ते हैं, रोते हैं और फिर पढ़ते हुए सुख का ही अनुभव करते हैं। इसलिए रस दशा 'आनंद' की ही द्योतक मानी गई है। 'रस' का स्वरूप 'ब्रह्म' के पर्याय के रूप में लिया गया है। 'रसो वै स:' अर्थात रस ही वह ब्रह्म है।

2.4 सभी रसों का सामान्य परिचय

रसों की संख्या दस हैं–शृंगार, वीर, हास्य, रौद्र, भयानक, वीभत्स, करुण, अद्‌भुत, शांत और वात्सल्य। 'भक्ति रस' को ग्यारहवें रस के रूप में देखा जाता है। रस ही काव्य की आत्मा है। ऐसा मानने वाले आचार्य गण मानते हैं कि कई बार उक्ति अनौचित्य या काव्य में रस का पूर्ण परिपाक न होने के कारण उक्ति में रसत्व तो विद्यमान रहता है किंतु उसमें तीव्र या दीप्त रसत्व का अभाव होता है। इसी कारण भक्ति को 'रस' के समान नहीं माना जाता। इस प्रकार की उक्तियों को सात प्रकारों में बांट सकते हैं–(1) भाव, (2) रसाभास, (3) भावाभास (4) भावोदय, (5) भावशांति, (6) भाव संधि और (7) भाव सबलता।

आचार्य मम्मट ने रसों के आठ भेद किए हैं। जिनका परिगणन निम्न प्रकार है–

शृंगार-हास्य-करुण-रौद्र-वीर भयानका:!
बीभत्साद्‌भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसायेस्मृता:!!

शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, और अदभुत ये सभी नाट्य में रस माने गए

1. **शृंगार रस**–शृंगार रस का स्थायी भाव 'रति' होता है। शृंगार के आलम्बन विभाव नायक-नायिका होते हैं। उपवन, चन्द्रिका आदि उद्दीपन विभाव होते हैं। भू-विक्षेप

कटाक्ष आदि इसके अनुभाव होते हैं तथा लज्जा, हास आदि व्यभिचारी भाव होते हैं।

श्रृंगार दो प्रकार का होता है-

(क) संयोग श्रृंगार (ख) वियोग श्रृंगार।

(क) संयोग श्रृंगार–इसमें नायक और नायिका का मिलन हो जाता है। इसके दो प्रकार होते हैं।

(ख) वियोग श्रृंगार– इसमें नायक नायिका का मिलन नहीं हो पाता। यह अभिलाषा, विरह, ईर्ष्या, प्रवास, शाप के भेद से पांच प्रकार का होता है।

2. हास्य रस- हास्य का स्थायी भाव 'हास' है।

आचार्य विश्वनाथ ने हास को निम्न रूप में परिभाषित किया है–

वागदिर्वैकृतैश्चेतौ विकासो हास इष्यते।

विकृत आकार तथा चेष्टा वाला व्यक्ति हास्य रस का आलम्बन होता है। अनुपयुक्त वेश-भूषा, चेष्टाएं तथा अनर्गल प्रलाप उद्दीपन होते हैं। नेत्र-संकोच, मुस्कराना आदि अनुभाव होते हैं तथा निद्रा, आलस्य आदि व्यभिचारी भाव होते हैं।

3. करुण रस- करुण रस का स्थायी भाव 'शोक' है। आचार्य विश्वनाथ ने शोक को निम्न रूप से परिभाषित किया है–

इष्टनाशादिभिश्चेतो वैक्लव्यं शोकशब्दभाक्।

अर्थात प्रिय वस्तु के नष्ट हो जाने पर चित्त की जो व्याकुलता होती है वही शोक कहलाती है। जिसके लिए शोक किया जाता है, वही शोच्य आलम्बन होता है। आलम्बन की बातें तथा दाह आदि अवस्था उद्दीपन होते हैं। 'दैवनिन्दा' तथा 'क्रन्दन' आदि अनुभाव होते हैं। मोह-व्याधि-विषाद आदि व्यभिचारी भाव होते हैं।

4. रौद्र रस- रौद्र रस का स्थायी भाव 'क्रोध' होता है।

आचार्य विश्वनाथ ने इसे निम्न रूप में परिभाषित किया है–

विरोधियों के प्रति हृदय में तीक्ष्णता या प्रतिशोध की भावना ही क्रोध कहलाती है। इसका आलम्बन शत्रु होता है। शत्रु की चेष्टाएं एवं अपकार आदि उद्दीपन होते हैं। भुजाएं ठोकना, शस्त्र-उठाना, आक्षेप लगाना आदि अनुभव होते हैं। मोह, अमर्ष अमूया आदि व्यभिचारी भाव होते हैं।

5. वीर रस-वीर रस का स्थायी भाव 'उत्साह' होता है। साहित्यदर्पणकार ने इसकी परिभाषा निम्न रूप में दी है–

कार्यारम्भेषू संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते।

अर्थात कार्य करने में आनन्दपूर्ण स्थिर उद्योग ही उत्साह कहलाता है। इसमें प्रतिद्वन्द्वी आलम्बन होता है। उसकी पराजय तथा युद्ध का कोलाहल उद्दीपन होते हैं। शस्त्र-प्रहार, शत्रु से प्रतिस्पर्धा अनुभाव तथा गर्व, धैर्य एवं मति आदि व्यभिचारी भाव होते हैं।

6. भयानक रस-भयानक रस का स्थायी भाव 'भय' है। आचार्य विश्वनाथ ने भयानक रस की परिभाषा निम्न रूप में प्रस्तुत की है–

रौद्र शक्त्या तु जनितं चित्तवैक्लव्यदं भयम्।

किसी भीषण वस्तु के कारण चित्त की विकलता भय कहलाती है। भयोत्पादक व्यक्ति या वस्तु आलम्बन होती है। उसकी चेष्टाएं उद्दीपन होती हैं। मुख का पीला पड़ना, बोल न पाना, स्वेद आदि अनुभाव हैं तथा शंका, सम्भ्रम, मरण आदि व्यभिचारी भाव होते हैं।

7. **वीभत्स रस**-वीभत्स रस का स्थायी भाव 'जुगुप्सा' है। आचार्य विश्वनाथ वीभत्स को इस प्रकार परिभाषित करते हैं–

दोषेक्षणादिभिर्गर्हो जुगुप्सा विषयोद्भवा।

अभिप्राय है कि किसी घृणास्पद वस्तु के दोष-दर्शन से उत्पन्न घृणाभाव ही जुगुप्सा है। दुर्गन्ध, सड़ांध, मांस, रुधिर आदि इसके आलम्बन हैं। कीड़े पड़ना आदि उद्दीपन हैं। नाक सिकोड़ना, थूकना आदि अनुभाव हैं तथा उद्वेग आदि व्यभिचारी भाव हैं, जिनसे सामाजिक में वीभत्स रस की अभिव्यक्ति होती है।

8. **अद्भुत रस–** अद्भुत रस का स्थायी भाव 'विस्मय' है। आचार्य विश्वनाथ अद्भुत रस की निम्न परिभाषा प्रस्तुत करते हैं–

विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्तिषु।

विस्फारश्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृतः॥

विलक्षण वस्तुओं के दर्शन, श्रवण आदि से जो चित्त का विकास होता है, वही विस्मय कहा जाता है। विस्मय का आलम्बन विलक्षण वस्तु होती है। ऐसी वस्तु का देखना, सुनना, कहना तथा गुण-वर्णन आदि उद्दीपन हैं। स्वेद, रोमांच, नेत्र विकास आदि अनुभाव हैं। वितर्क, आवेग, हर्ष आदि व्यभिचारी भाव होते हैं।

9. **शान्त रस**-शान्त की रस-विषयक मान्यता में आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है। अभिनवगुप्त के मतानुसार मोक्ष रूप पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए शान्त रस की स्वीकृति आवश्यक है।

आचार्य मम्मट ने सभी के मतों का सार लेकर शान्त रस को अपनी मान्यता प्रदान की है-**निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः**। शान्त रस का स्थायी भाव 'निर्वेद' है। इसका दूसरा नाम 'शम' भी है। संसार की अनित्यता, परमात्मस्वरूप की अनुभूति इसका आलम्बन है। आश्रम, तीर्थ तपोवनादि उद्दीपन तथा रोमांचादि अनुभाव हैं। स्मृति, धृति, मति, जीव, दया तथा हर्षादि इसके व्यभिचारी भाव होते हैं।

काव्य और छन्द का अटूट संबंध है। विश्व काव्य साहित्य आदिकाल से ही छन्दोबद्ध रूप में रचा गया है। छन्दों का आधार संगीत है। विभिन्न छन्दों का निर्माण संगीत-शास्त्र के आधार पर ही हुआ है। प्राचीन काल से आधुनिक युग के पूर्व तक काव्य में छन्दों की अनिवार्यता का सिद्धांत मान्य रहा है। वैदिक साहित्य से ही स्पष्ट विदित होता है कि शास्त्र-बद्ध छन्दों के अतिरिक्त कहीं-कहीं शास्त्र मुक्त छन्दों का भी प्रयोग होता था पर वह (शास्त्र-मुक्त) छन्द भी होता छन्द ही था जिसमें स्वर, लय का एक व्यवस्थित क्रम संगीतात्मकता उत्पन्न करता था। आधुनिक युग में जो स्वच्छन्द छन्द की बात निराला ने संभवतः अंग्रेजी या बांग्ला के प्रभाव से हिंदी में की थी, वह कोई नई बात नहीं थी। निराला ने केवल नियम बंधन का विरोध किया था, छन्द का नहीं अर्थात निराला ने कविता करते समय मात्राओं या अक्षरों की निश्चित गणना से युक्त नियमबद्ध छन्दों के प्रतिबंध का विरोध किया था, भाषा के निश्चित प्रवाह का नहीं; जो अंततः छन्द ही होता है, चाहे उसका पूर्वनामकरण न हुआ हो।

भारतीय काव्यशास्त्र में प्रारंभ से ही छन्द को अनिवार्य मानने की परंपरा मौजूद रही है। भारतीय मनीषी चारक ने छन्दों की परिभाषा देते हुए कहा है कि ये भावों को आच्छादित कर उन्हें समष्टि रूप प्रदान करते हैं। कविता में छन्दों के प्रयोग से संगीतात्मकता आ जाती है और संगीत के समावेश से कविता का प्रभाव और महत्व बढ़ जाता है।

वैदिक काल में जिन छन्दों का सर्वाधिक प्रयोग होता था उनमें गायत्री, अनुष्टुप, त्रिष्टुप, बृहती, पंक्ति, जगती आदि छन्द प्रमुख हैं। इन छन्दों की गति स्वरों के आरोहावरोह पर आधारित थी। आगे चलकर प्राकृत-अपभ्रंश काल में मात्रिक छन्दों का विकास हुआ, जैसे-छप्पय, कुंडलिया, दोहा, चौपाई, सोरठा, रोला आदि। आधुनिक काल में हिन्दी छन्द-परंपरा ने नया मोड़ लिया तथा अयोध्या सिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, रूपनारायण पांडेय आदि कवियों ने संस्कृत के वर्ण छन्दों की रचना की। किन्तु हिन्दी की आश्लिष्ट प्रकृति के प्रतिकूल होने के कारण आज छन्दों के प्रयोग में काफी कमी आई है।

इस इकाई में हम काव्यशास्त्र के दो सिद्धांत छन्द एवं अलंकार का अध्ययन करेंगे।

3.1 इकाई के उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप-

- छन्द की अवधारणा, अवयव एवं मात्रागत स्थिति को समझ पाएंगे;
- कविता में छन्द का स्थान स्पष्ट कर पाएंगे;
- प्रमुख छन्दों को सोदाहरण रेखांकित कर पाएंगे;
- अलंकार की अवधारणा एवं काव्य में स्थान का उल्लेख कर पाएंगे;
- शब्द एवं अर्थालंकार को समझ पाएंगे;
- प्रमुख अलंकारों के लक्षण एवं उदाहरण की विवेचना कर पाएंगे।

3.2 छन्द

गद्य का नियामक व्याकरण है और पद्य का छन्द शास्त्र। हिंदी साहित्य की पारंपरिक रचनाएं छन्दबद्ध ही हुआ करती थीं, यानी किसी न किसी छन्द में रची जाती थीं। विश्व की अन्य भाषाओं में भी यही दर्शनीय तथ्य है। आज छन्दमुक्त रचनाएं भी की जा रही हैं।

3.2.1 छन्द की अवधारणा

छन्द भारतीय आर्य भाषा परिवार की उतनी ही प्राचीन परंपरा है जितनी ज्ञान की अन्य शाखाएं हैं। भारत के प्राचीनतम लिपिबद्ध आलेख वेद हैं और वेदों का सम्यक ज्ञान प्राप्त करने के लिए वेदांगों का अध्ययन अनिवार्य है, ऐसा प्राचीन मनीषी कहते हैं। वेदांगों की संख्या छह है– (1) शिक्षा, (2) कल्प, (3) ज्योतिष, (4) व्याकरण, (5) निरुक्त और (6) छन्द। यजुर्वेद को छोड़कर शेष तीनों संहिताओं में छन्दों का प्रयोग किया गया है। यजुर्वेद गद्य में लिखित है। वेदों में मुख्यत: सात छन्दों के प्रयोग किए गए हैं– (1) गायत्री, (2) उष्णिक, (3) अनुष्टुप, (4) बृहती, (5) पंक्ति, (6) त्रिष्टुप और (7) जगती।

सर्वप्रथम यास्क ने 'छन्द' की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या की है। आपके अनुसार, 'छन्दांसि धारनात्' अर्थात छन्द भावों को आच्छादित कर उन्हें समष्टि रूप प्रदान करते हैं। 'छन्द' शब्द छादनार्थक 'छद्' धातु से बना है। इसके पश्चात कात्यायन ने छन्द की परिभाषा करते हुए लिखा है कि 'यदक्षर परिमाणं तच्छन्द:' अर्थात जिसमें अक्षरों के परिमाण या संख्या में वर्णों

की संख्या निहित होती है, वह छन्द कहलाता है। अर्थात प्रत्येक छन्द में वर्णों की संख्या निर्धारित रहती है। इसके पश्चात छन्द एक निश्चित परिभाषा में आबद्ध कर दिया गया कि 'छन्द' काव्य के उस तत्व का नाम है जिसमें वर्णों की या मात्राओं की संख्या, 'गुरु लघु' का क्रम, यति, गति की व्यवस्था निर्धारित हो। इनके भेदोपभेदों एवं वर्ण, मात्रा, यति, गति, चरण आदि की व्यवस्था करने वाले शास्त्र को छन्द-शास्त्र कहा जाता है।

हिंदी में छन्दों की नवीनता की आवश्यकता पर सर्वप्रथम आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने विचार व्यक्त किए थे। उन्होंने परंपरागत मात्रिक छन्दों के साथ-साथ संस्कृत के वर्ण-वृत्तों को अपनाने की ओर ध्यान दिलाया था, जिससे अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त आदि ने दिशा-संकेत पाकर संस्कृत के वर्ण वृत्तों में भी कविता आरंभ की। उन्होंने कहा था, "जो सिद्ध कवि हैं वे चाहे जिस छन्द का प्रयोग करें उनका पद्य अच्छा ही होता है, परंतु सामान्य कवियों को विषय के अनुकूल छन्द-योजना करनी चाहिए। दोहा, चौपाई, सोरठा, घनाक्षरी, छप्पय और सवैया आदि का प्रयोग हिंदी में बहुत हो चुका। कवियों को चाहिए कि यदि वे लिख सकते हैं तो इसके अतिरिक्त और छन्द भी लिखा करें।"

कविकर्म में कठिनाई होते हुए भी कविता में छन्द का गौण व वैकल्पिक स्थान नहीं है। द्विवेदी जी ने भी ऐसा नहीं कहा था। उनका कथन है कि किसी एक छन्द का महत्व नहीं है। प्रतिभावान कवि अपनी कवित्व-शक्ति के बल पर किसी भी छन्द में सफल रचना कर सकता है। निराला ने भी शास्त्र-बद्ध छन्दों का विरोध किया, छन्द में पूर्व सांचे का प्रतिबंध अनावश्यक माना, बंधन को अस्वीकारा, छन्द या मुक्त छन्द अर्थात स्वतः निर्मित स्व-छन्द को; छन्द को नहीं। वास्तव में निराला का तात्पर्य यही था कि कवि की अनुभूति स्वतः अपने आप जिस प्रवाहात्मक स्वतः व्यवस्थित रूप में प्रकट हो जाती है, वह मुक्त छन्द बन जाता है। इस प्रकार हम ये कह सकते हैं-

1. छन्द कविता का अनिवार्य तत्व है जिसके बिना उसका असली रूप सिद्ध नहीं होता। यह बंधन अवश्य है, पर ऐसा श्रमसाध्य बांध है जो शक्ति उपजाता है।
2. छन्दरहित पाठ्य कविता नहीं, गद्य काव्य हो सकता है– वह भी भावप्रवणता यदि हो।
3. स्वच्छन्द छन्द (निराला द्वारा प्रवर्तित) भी एक तरह का अव्यवस्थित अनिश्चित छन्द है, जो अपनी प्रवाहात्मकता के कारण अपना कुछ पाठ्य सौंदर्य प्रकट कर सकता है– यदि निराला जैसा कोई अच्छा पढ़ने वाला हो। वह संगीतात्मक नहीं, उसकी उपयोगिता कविता की अपेक्षा नाटकों में पात्रों के वार्तालाप में प्रयुक्त करने में है।
4. अपनी प्रतिभा से कवि नयी-नयी संगीतात्मक छन्द-ध्वनियां प्रकट कर सकता है। बने-बनाये सांचों को ही सामने रखना अनिवार्य नहीं। वह स्वच्छन्दता से गुनगुना कर ध्वनियों के साम्य और आरोह-अवरोह से स्वयं संगीतात्मक स्वर, लय प्रकट कर सकता है। ऐसी स्वर-लहरी स्वतः ही कोई-न-कोई छन्द बन जाती है।
5. साधने पर छन्द ऐसे सध जाते हैं कि फिर कवि के इंगितों पर नाचने लगते हैं।
6. छन्दों से कविता में संगीतात्मकता आ जाती है और संगीत के समावेश से कविता का प्रभाव और महत्व खूब बढ़ जाता है। वह मधुर तथा मनोहारी होकर अलौकिक आनंद प्रदान करती है। संगीत अपने में एक महत्वपूर्ण कला है। कविता को उसकी इस सहयोगिनी कला से वंचित करना कविता का अहित करना ही है।

संगीतात्मक छन्दों का ऐसा अद्‌भुत प्रभाव होता है कि कभी-कभी अर्थ न समझने पर भी पाठक या श्रोता झूम उठता है और कई बार तो संगीत-ध्वनियों से ही हृदय में भाव उमड़ आता है। संगीत से एक विशेष प्रकार का विलक्षण चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। हम रोज ही कवि सम्मेलनों में देखते हैं कि जो कवि अपनी रचना गाकर 'तरन्नुम' में सुनाता है, उसका प्रभाव श्रोताओं पर अधिक पड़ता है, चाहे उसमें भाव-रस-संपदा अपेक्षाकृत कम हो। इसके विपरीत छन्द और गेयतारहित कविता को पढ़कर सुनाने वाला कवि मंच पर कम जम पाता है। अत: गेय और संगीतमय होने से कविता की प्रभावशक्ति खूब बढ़ जाती है। इसलिए छन्द को कविता का अनिवार्य तत्व मानना चाहिए। अत: कहा जा सकता है कि रसानुभूति कराना कविता का लक्ष्य होने के कारण लय और छन्द से उसका अटूट संबंध है।

3.2.2 छन्द के अवयव एवं मात्रा की स्थिति

छन्द वह सांचा या बंध है जिसमें मात्राओं या अक्षरों (स्वर-ध्वनियों) के क्रम, गति और यति के नियम तथा चरणान्त की समता का ऐसा विधान होता है जिससे कविता में प्रवाह, लय, गेयता और संगीतात्मकता आ जाती है।

गण

तीन वर्णों के समूह को 'गण' कहते हैं। इन तीन वर्णों में दो एक जाति के और एक एक जाति का होता है। केवल दो गण ऐसे हैं जिनमें एक जाति के ही तीनों वर्ण होते हैं। यहां पर जाति से तात्पर्य लघु एवं गुरु वर्णों से है। इस आधार पर संस्कृत आचार्यों ने समस्त वाङ्मय को आठ गणों में समेट लिया है। गणों का अधिक प्रयोग वर्णिक छन्दों में ही किया जाता है। कुछ मात्रिक छन्द भी ऐसे हैं जिनमें आचार्यों ने गण विशेष का संकेत दिया है जिनका ज्ञान यथास्थान हो जाएगा। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि इन गणों की कुल संख्या आठ निर्धारित की गई है– (1) भगण, (2) जगण, (3) सगण, (4) यगण, (5) रगण, (6) तगण, (7) मगण, (8) नगण।

क्रम गुरु और लघु के आधार पर रखा गया है। इसी आधार पर हम इनके तीन वर्ग बना सकते हैं– (1) भजसा, (2) यरता और (3) मन।

उपर्युक्त वर्गों में प्रथम दो वर्गों में तीन गण तथा अंतिम वर्ग में दो गण रखने के आधार हैं। जैसा कि बताया जा चुका है कि प्रत्येक गण में तीन वर्ण होते हैं, अत: इनका क्रम होगा– (1) आदि, (2) मध्य और (3) अंत।

यह भी कहा गया है कि प्रत्येक गण में दो वर्ण उस एक जाति के वर्ण को आधार बनाकर बनाए गए हैं। एक वर्ण में तीन गण इसलिए रखे गए हैं कि वह एक वर्ण उस गण विशेष में या तो आदि में होगा या मध्य में या फिर अंत में होगा।

इस आधार पर एक वर्ग में तीन गण रख लिए, उसी क्रम से जिस क्रम से उस एक जाति के वर्ण का सन्निवेश होगा। तीसरे वर्ग का आधार है वर्ण की संपूर्णता अर्थात इनमें तीनों ही वर्ण एक जाति के होंगे। जाति दो ही हैं– गुरु एवं लघु। अत: पहले में तीनों वर्ण गुरु अर्थात मगण और दूसरे में तीनों लघु अर्थात नगण। गुरु बड़ा होता है अत: पहले गुरु को ही लेते हैं– (1) पहले वर्ग में तीन गण हैं– भगण, जगण और सगण। इनका संक्षिप्त रूप हुआ

'भजसा'। आधार है 'गुरु वर्ण' आदि, मध्य और अंत के रूप में। 'भजसा' में पहला वर्ण 'भ' है। अतः सिद्ध हुआ कि भगण में पहला वर्ण गुरु होगा और शेष दो वर्ण लघु होंगे; यथा- 'ऽ।।' यह भगण का रूप हुआ।

'जगण' 'भजसा' शब्द के मध्य में 'ज' रूप में वर्तमान है। अतः स्वतः स्पष्ट है कि 'जगण' के मध्य में गुरु वर्ण आएगा तथा आदि और अंत में एक-एक लघु वर्ण आएंगे और रूप होगा– '।ऽ।'

'भजसा' शब्द के अंत में 'स' वर्ण आया है जो सगण का द्योतक है। यह अंत में है। अतः इस गण के अंत में गुरु वर्ण आएगा और आदि तथा मध्य के दोनों वर्ण लघु होंगे। रूप होगा- '।।ऽ'

गुरु का कार्य पूर्ण हुआ। अब इसी प्रकार लघु वर्ण वाले वर्ग को लेते हैं– लघु वर्ण वाले वर्ग का नाम है– 'यरता'। यह शब्द 'यगण', 'रगण' और 'तगण' शब्दों का संक्षिप्त रूप है। लघु के उसी क्रम आदि, मध्य और अंत में इन गणों की भी व्याख्या की जा सकती है। 'यरता' शब्द के आदि में 'य' वर्ण है जो 'यगण' का प्रतिनिधि है और लघु वाले वर्ग का है तथा वर्ग के आदि में है। अतः 'यगण' का आदि वर्ण 'लघु' होगा और शेष दो वर्ण गुरु होंगे जो मध्य और अंत में होंगे। अतः यगण का रूप होगा– '।ऽऽ'

'रगण' 'यरता' शब्द के मध्य में आए 'र' से सूचित है, लघु वर्ण के वर्ग में है। अतः स्पष्ट है कि 'रगण' में मध्य में लघु आएगा और शेष आदि और अंत में एक-एक गुरु वर्ण आएंगे। इस प्रकार रगण का रूप होगा– 'ऽ।ऽ'

'तगण' को द्योतित कराने वाला 'त' वर्ण 'यरता' शब्द के अंत में आया है। अतः लघु वर्ग का होने के कारण तगण के अंत में 'लघु' वर्ण आएगा और आदि तथा मध्य में एक-एक गुरु वर्ण आएगा। इस प्रकार तगण का रूप होगा– 'ऽऽ।'

मगण और नगण के संबंध में संकेत दिया जा चुका है। ये तीसरे वर्ग के गण हैं जो क्रमशः 'गुरु और लघु' से संबद्ध हैं। अतः गुरु के पहले आने से 'मन' के पहले वर्ण 'म' में जो 'मगण' का प्रतिनिधि है, तीनों गुरु वर्ण होंगे। 'लघु' गुरु से छोटा है। अतः बाद में आएगा। 'मन' वर्ग में 'न' बाद में आया है और यह 'नगण' का प्रतिनिधि है। अतः स्पष्ट है कि 'नगण' में तीनों वर्ण लघु होंगे। इस प्रकार इनका रूप होगा मगण– 'ऽऽऽ' और नगण '।।।' समस्त गणों के रूप एक साथ इस प्रकार होंगे–

यगण	–	।ऽऽ
मगण	–	ऽऽऽ
तगण	–	ऽऽ।
रगण	–	ऽ।ऽ
जगण	–	।ऽ।
भगण	–	ऽ।।
नगण	–	।।।
सगण	–	।।ऽ

उपर्युक्त विधि संस्कृत भाषा में लिखित श्रुतबोध ग्रंथ के आधार पर प्रतिपादित की गई है। श्रुतबोध ग्रंथ का श्लोक है–

आदिमध्यावसानेषु भजसा यान्ति गौरवम्।
यरता लाघवम्यान्ति, मनौ तु गुरु लाघवम्।।

कुछ विद्वान गणों को चिह्नित करने की एक विधि का भी प्रतिपादन करते हैं। इन्होंने एक ऐसा सूत्र बनाया है कि उसमें सभी गणों के संक्षिप्त नाम आ जाते हैं और आपको जिस गण को भी निकालना हो आप उस 'गण' के प्रतिनिधि वर्ण (आद्य वर्ण) से गुरु लघु लगाइए। जब तीन वर्ण पूरे हो जाएं और जो रूप सामने आए उसे ही उस गण का रूप समझ लीजिए। सूत्र इस प्रकार है–

यमाताराजभानसलगा।

।	ऽ	ऽ	ऽ	।	ऽ	।	।	।	ऽ
य	मा	ता	रा	ज	भा	न	स	ल	गा

यमाता	–	यगण	–	।ऽऽ
मातारा	–	मगण	–	ऽऽऽ
ताराज	–	तगण	–	ऽऽ।
राजभा	–	रगण	–	ऽ।ऽ
जभान	–	जगण	–	।ऽ।
भानस	–	भगण	–	ऽ।।
नसल	–	नगण	–	।।।
सलगा	–	सगण	–	।।ऽ
ल	–	लघु	–	।
गा	–	गुरु	–	ऽ

गणों के स्वरूप को समझने की यह भी एक पद्धति है। वृत्तरत्नाकर के लेखक एवं छन्दोमन्जरी के लेखक ने श्रुतबोध की पद्धति को ही अपनाया है।

गुरु एवं लघु वर्ण

मात्राओं को दृष्टि में रखकर छन्द-शास्त्री वर्ण के भार का अनुमान लगाते हैं कि किस वर्ण में कितना भार है। अधिक भार वाले वर्ण को गुरु और कम भार वाले वर्ण को 'लघु' कहा जाता है। इस आधार पर संगीत के आरोहावरोह, क्रम एवं ताल, लय की संगति बैठती है। अतः छन्द शास्त्रकारों ने इस आधार पर वर्ण को दो वर्णों में विभाजित किया है– (1) गुरु एवं (2) लघु।

(1) गुरु वर्ण

मूलतः व्याकरण में जिस वर्ण की दीर्घ संज्ञा होती है, छन्द-शास्त्र में उसे ही 'गुरु' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। सामान्यतः दो मात्राओं वाले वर्ण को गुरु कहा जाता है अर्थात जिस

वर्ण या अक्षर के उच्चारण में दो मात्राओं का समय लगता है उसे छन्द-शास्त्र में गुरु वर्ण माना जाता है और उसे 'ऽ' (अंग्रेजी एस.) चिह्न से द्योतित कराया जाता है। निम्नांकित अन्य स्थलों पर भी लघु वर्ण को छन्द-शास्त्र में 'गुरु' वर्ण माना जाता है–

1. यदि संयुक्त व्यंजन से पहले कोई लघु वर्ण भी होगा तो वह गुरु ही माना जाएगा; यथा– 'प्रयुक्त' शब्द में आगत 'यु' वर्ण लघु है किंतु 'क्त' संयुक्त वर्ण का पूर्ववर्ती होने के कारण इसकी गुरु संज्ञा होगी।
2. अनुस्वार युक्त लघु वर्ण भी छन्द-शास्त्र के अनुसार गुरुसंज्ञक होगा; यथा– 'संसार'। इस शब्द में आद्य 'स' लघु है किंतु अनुस्वार युक्त होने के कारण इसको गुरु माना जाएगा।
3. पाद के अंतिम लघु वर्ण को यदि प्रयोजन हो तो अर्थात छन्द सिद्धि के लिए, गुरु मान लिया जाता है। इससे कवि छन्दों-भंग दोष से बच जाता है।
4. किसी वर्ण के आगे यदि विसर्गों का प्रयोग हुआ है और वह वर्ण लघु है तो छन्द-शास्त्र में उसे भी गुरु वर्ण ही माना जाएगा; यथा– 'अतः'। इस शब्द में 'त' लघु वर्ण है किंतु इसके आगे विसर्गों के प्रयोग के कारण 'त' गुरु संज्ञक माना जाएगा।

(2) लघु वर्ण

व्याकरण में जिस वर्ण की ह्रस्व संज्ञा होती है उसे ही छन्द शास्त्र के लघुभार वाला लघु वर्ण कहा जाता है। सामान्यतः एक मात्रा वाले वर्ण की लघु संज्ञा होती है अर्थात जिस वर्ण के उच्चारण करने में एक मात्रा का समय लगता है वह वर्ण छन्द-शास्त्र में लघु संज्ञक होता है। इसे खड़ी रेखा से द्योतित कराया जाता है; यथा–'।' इसके अतिरिक्त अन्य कारणों से भी गुरु वर्ण की छन्द-शास्त्र में लघु संज्ञा हो जाती है–

1. पाद के अंतिम गुरु वर्ण को, यदि किसी प्रयोजन की सिद्धि होती है तो उसे लघु माना जाना चाहिए, ऐसी शास्त्रकारों की मान्यता है।
2. यदि किसी संयुक्त वर्ण से पूर्ववर्ती वर्ण लघु है और पूर्व नियम के अनुसार उसकी गुरु संज्ञा हो जाती है किंतु उसका लघु रखना ही अभीष्ट है (किसी प्रयोजन विशेष के कारण) तो पूर्व नियम का उल्लंघन कर उसे लघु ही माना जा सकता है। किंतु यह सुविधा केवल चरण के प्रारंभिक वर्ण तक ही सीमित रखी गई है।

उपर्युक्त दोनों नियम संभवतः कवि को छन्दों-भंग दोष से बचाने के लिए ही निर्धारित किए गए हैं। अनेक अवसर ऐसे आते हैं कि कवि किसी शब्द का साभिप्राय प्रयोग करना चाहता है किंतु छन्द नियम के कारण वह उसका प्रयोग नहीं कर पा रहा हो और अन्य शब्द के प्रयोग से भाव की हानि होती हो तो कवि को यह छूट दे दी गई है। दूसरे कुछ स्थल ऐसे भी आते हैं कि संगीतात्मकता के कारण गुरु वर्ण लघु और लघु वर्ण गुरु उच्चरित होते हैं। अतः शास्त्रकारों ने निष्कर्षतः ऐसी व्यवस्था कर दी हो।

छन्द में लय एवं प्रवाह लाने के लिए कुछ वर्णों के उच्चारण के पश्चात विश्राम की आवश्यकता पड़ती है और गायक कुछ क्षण के लिए विश्राम लेता है। छन्द शास्त्रकारों ने किस

छन्द में कहां पर विश्राम लिया जाए इसका सम्यक विधान किया है और उसे 'यति' की संज्ञा से अभिहित किया है।

यति

यति का अर्थ है विराम। किसी पद्य को पढ़ते समय या सुनते समय पाठक या श्रोता अपने कथन का सुविधापूर्वक पाठ कर सके और श्रोता उसे हृदयंगम कर कुछ स्थलों पर कुछ क्षण के लिए विराम करता है या रुकता है। उस रुकने के भाव को यति और जहां पर वह रुकता है या विश्राम करता है उस स्थल को यति स्थान कहा जाता है। पाद के अंत में और मध्य में यति आनी चाहिए। यह सामान्य नियम है किंतु ऐसा-विशेषकर मध्य यति का-सर्वत्र नहीं होता और कुछ कारणों से संभव नहीं हो पाता। फलतः आचार्यों ने लगभग सभी छन्दों के प्रत्येक चरण में यति स्थान नियत कर दिए हैं। ये यति स्थान संभवतः यादृच्छिक नहीं हैं अपितु प्रत्येक छन्द की संगीतात्मकता एवं आरोहावरोह क्रम को ध्यान में रखकर निर्धारित किए गए हैं। भरतादि कुछ आचार्य यति को मान्यता नहीं देते किंतु परवर्ती आचार्यों ने श्लोक या पद्य में विरसता से बचाव के लिए यति के महत्व को स्वीकार किया है। यति के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि वह शब्द के मध्य में न आए। इसके लिए कवि को सतर्क रहने की आवश्यकता है। कविता में पद विन्यास कुछ इस प्रकार से होना चाहिए कि यति पद के पूर्ण होने पर भी आनी चाहिए अन्यथा पद भंग के कारण सुनने में विरसता आ जाने का भय बना रहेगा।

छन्दोबद्ध रचना को 'पद्य' कहा जाता है। कुछ छन्दों को छोड़कर प्रत्येक शब्द में प्रायः चार चरण या पाद माने जाते हैं। अतः चारों पादों के संपूर्ण रूप को पद्य और उसके एक भाग को पाद या चरण कहा जाता है।

तुकांतता या अन्त्यानुप्रास

यद्यपि तुकांतता या तुक-साम्य छन्द का अनिवार्य तत्व नहीं है, अपितु इसका कविता में विशेष महत्व है। तुक-साम्य के पांच रूप हो सकते हैं-

1. जहां सब चरणों में तुकांतता हो, जैसे कवित्त, सवैया आदि में।
2. जहां दूसरे और चौथे चरणों के अंत में तुल-साम्य हो, जैसे दोहा, बरवै आदि में।
3. जहां पहले और तीसरे के अंत में तुक-साम्य हो, जैसे सोरठा में।
4. जहां पहले-दूसरे तथा तीसरे-चौथे की तुक अंत में मिलती हो।
5. जहां सम चरण की सम चरण से (दूसरे-चौथे की) तथा विषम की विषम से (पहले-तीसरे की) तुक मिलती हो।

तुकांतता या तुक साम्य से छन्द की गेयता और लय का गुण बढ़ जाता है। उसमें संगीत की विशिष्ट ध्वनि उत्पन्न हो जाती है। आज की अतुकांत कविता तो छन्द रहित ही बन गई है।

छन्द के भेदोपभेद एवं मात्रा विधान

छन्द-शास्त्रज्ञों ने छन्द को पहले दो वर्गों में विभाजित किया है– (1) वर्णिक, (2) मात्रिक।

पुनः इनका तीन उपविभागों में विभाजन किया गया- (क) समवर्णिक छन्द, (ख) अर्धसम वर्णिक छन्द, (ग) विषम वर्णिक छन्द।

इसी प्रकार मात्रिक के भी तीन भेद होते हैं– (क) सम मात्रिक छन्द, (ख) अर्धसम मात्रिक छन्द, (ग) विषम मात्रिक छन्द।

(1) वर्णिक छन्द

वर्णिक छन्द उन छन्दों को कहा जाता है जिनमें वर्णों की संख्या निर्धारित होती है और गणों के आधार पर जिनके लक्षणों को पुष्ट किया जाता है तथा यति स्थान निर्धारित रहता है। मल्लिका, मन्दाक्रान्ता, वंशस्थ आदि वर्णिक छन्द हैं। उदाहरण–

पीछे बातें विविध करती, काँपती, कष्ट पाती।
ऽ ऽ ऽ ऽ ।। । ।। ऽ ऽ। ऽ ऽ । ऽ ऽ,
म भ न त त गुरु

कुल– 17 वर्ण हैं।

उपर्युक्त पंक्ति में मन्दाक्रांता छन्द है। लक्षणानुसार इसमें मगण, भगण, नगण, तगण, तगण और दो गुरु के क्रम से 17 वर्ण होते हैं तथा चौथे, फिर छठे और पदान्त में अर्थात सातवें वर्ण पर यति होती है। उपर्युक्त पंक्ति में इसी क्रम से गणों की स्थापना की गई है तथा तें, ती, तथा ती वर्णों पर यति है जो पंक्ति में क्रमशः चौथे, छठे और सातवें वर्ण हैं। इसके चारों चरण बराबर हैं।

(क) **समवर्णिक छन्द–** जिस वर्णिक छन्द में चारों चरणों में समान वर्णों और समान क्रम से गणों की स्थापना की जाती है वहां समवर्णिक छन्द होता है अर्थात इस प्रकार के छन्दों में पद्य के चारों चरण समान लक्षण वाले होते हैं; जैसे–

मुख - मलीन किये दुख में पगे।
। । । ऽ। । ऽ । । ऽ । ऽ
न भ भ र

कुल 12 वर्ण, चार गण हैं।

अमित मानव गोकुल ग्राम के।।
। । । ऽ।। ऽ । । ऽ । ।
न भ भ र

कुल 12 वर्ण, चार गण हैं।

सब सदार स बालक-बालिका।
। । । ऽ।। ऽ । । ऽ । ऽ
न भ भ र

कुल 12 वर्ण, चार गण हैं।

व्यथित से निकले निज सद्म से।
। । । ऽ । । ऽ । । ऽ । ऽ
न भ भ र

कुल 12 वर्ण, चार गण हैं।

उपर्युक्त पद्य के चारों चरणों में बारह-बारह वर्ण हैं। प्रत्येक चरण में क्रमशः नगण, भगण, भगण और रगण गणों की योजना की गई है। छन्द के लक्षण के अनुसार यहां पर समवर्णिक द्रुतविलम्बित छन्द है।

(ख) **अर्धसम वर्णिक छन्द–** इस छन्द में प्रथम और तृतीय चरण तथा द्वितीय और चतुर्थ चरणों में समान वर्णों एवं समान गणानुक्रम की योजना की जाती है अर्थात जिस छन्द में पहले और तीसरे चरणों को समान रखा गया हो किंतु तीसरे और चौथे चरणों में परस्पर समानता रखते हुए उन्हें प्रथम और तृतीय चरण से भिन्न रखा गया हो वहां पर अर्धसम वर्णिक छन्द होता है। इस प्रकार के छन्दों में न तो पूर्णतया समानता होती है और न ही पूर्णतया असमानता। अतः इन्हें अर्धसम वर्णिक छन्द कहते हैं। 'अर्धसम' इसलिए कहते हैं कि विषमता की तुलना में समता का पलड़ा भारी रहता है। उदाहरण–

सुन्दर कारण जीवन का है।

भ ।ऽ।। भ ऽ।। भ ऽ।। ऽ ऽ

11 वर्ण, तीन गण, दो गुरु।

अब अकुला कर मौन हुआ था
। । । । ऽ । । ऽ । । ऽ ऽ
न ज ज य

12 वर्ण, चार गण।

साम्यरसा धरती पर बैठा
ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ ऽ
भ म य गु

11 वर्ण, तीन गण, दो गुरु।

मनस नदी पर द्वीप हुआ था।
। । । । ऽ । । ऽ । । ऽ । ऽ
ज ज ज य

12 वर्ण, चार गण।

उपर्युक्त पंक्तियों में पहली और तीसरी पंक्तियों में ग्यारह-ग्यारह वर्ण हैं और क्रमशः तीन भगण दो गुरु हैं जबकि दूसरी और चौथी पंक्तियों में बारह-बारह वर्ण हैं और क्रमशः नगण, जगण और यगण चार गणों की योजना है। इस प्रकार प्रथम एवं तृतीय तथा द्वितीय एवं चतुर्थ चरणों में समानता के कारण, यहां पर अर्धसम वर्णिक छन्द है। अतः यहां पर द्रुतमध्या नाम का अर्धसम वर्णिक छन्द है।

(ग) **विषम वर्णिक छन्द–** जहां पर 'छन्द' या पद्य के चारों चरणों में वर्णों एवं गणों के क्रम की समानता न हो वहां पर विषम वर्णिक छन्द होता है। कभी-कभी कोई दो चरण तो समान होते हैं और शेष दो चरण असमान होते हैं तब भी वहां पर विषम वर्णिक छन्द ही होगा क्योंकि इसमें भी चरणों का असम वर्ग अर्थात तीन वर्ग हो जाते हैं, उदाहरण–

हरिणाक्षिणी शशिमुखी तु शिखिर दशना प्रियम्वदा
। । ऽ । ऽ । । । ऽ । । । । ऽ । ऽ । ऽ । ऽ
स ज स ल न स ज गु

भिर्र कटि सुगमना मधुरा कुल कामिनी कसक दायिनी बनी
ऽ । । । । । । ऽ । । ऽ । । । । ऽ । । ऽ । ऽ । ऽ
भ न ज ल गु स ज स ज गु

उपर्युक्त पद्य के पहले चरण में दस वर्ण हैं और क्रमशः सगण, जगण, सगण तथा एक लघु की व्यवस्था है। दूसरे चरण में भी वर्ण तो दस ही हैं किंतु गणों की व्यवस्था भिन्न है, जैसे- नगण, सगण, जगण और गुरु। तीसरे चरण में ग्यारह वर्ण हैं और क्रमशः भजन, नगण, जगण तथा एक लघु और एक गुरु का विन्यास है। चतुर्थ चरण में तेरह वर्ण हैं और क्रमशः सगण, जगण, सगण, जगण और एक गुरु का नियोजन है। चारों चरणों की भिन्न-भिन्न रूप से स्थापना होने के कारण यह विषम वर्णिक छन्द है और इसमें 'उद्‌गता' विषम वर्णिक छन्द के लक्षण होने के कारण उद्‌गता छन्द है।

(2) मात्रिक छन्द

जहां पर छन्द का नियोजन वर्ण या गणों के आधार पर न कर मात्राओं के आधार पर किया जाता है, वहां पर मात्रिक छन्द होता है। इसमें गुरु की दो मात्राएं एवं लघु की एक मात्रा परिगणित की जाती है। वर्णों के गुरु-लघु रूपों का विवेचन पहले ही किया जा चुका है। वर्णिक छन्दों की तरह ही इसके भी तीन वर्ग किए जाते हैं– (क) सममात्रिक छन्द, (ख) अर्धसम मात्रिक छन्द और (ग) विषम मात्रिक छन्द।

(क) **सममात्रिक छन्द**– सममात्रिक छन्द वे होते हैं जिनके चारों चरणों में समान मात्राओं का विन्यास किया जाता है और संबद्ध मात्रिक छन्द के अन्य यति, गुरु, लघु, गण (यदि विधान हो) आदि के नियमों का चारों चरणों में समान रूप से पालन किया जाता है; यथा–

मरै बैल गरियार, मरै वह अडियल टट्टू
।ऽ ऽ। ।।ऽ। ।ऽ ।। । । । । ऽ ऽ = 24 मात्राएं

मरै करकसा नारि, मरै वह खसम निखट्टू
।ऽ ऽ। ।ऽ ऽ। ।ऽ ।। । । । । ऽ ऽ = 24 मात्राएं

वामन सो मरि जाय, हाथ ले मदिरा प्यावै।
ऽ।। ऽ ।। ऽ। ऽ। ऽ । । ऽ ऽ ऽ = 24 मात्राएं

पूत वही मर जाय, जो कुल में दाग लगावै।
ऽ। ।ऽ ।। ऽ। ऽ ।। ऽ । ऽ ।ऽ ऽ = 24 मात्राएं

उपर्युक्त पंक्तियों में प्रत्येक चरण में चौबीस-चौबीस मात्राएं हैं तथा प्रत्येक चरण में ग्यारह और तेरह मात्राओं पर यति है। अतः चारों चरणों में समान मात्राएं हैं तथा समान रूप से यति है। अतः यह सममात्रिक छन्द है। इसी प्रकार 'रोला' छन्द के लक्षण लक्षित होने से यहां पर रोला छन्द है।

(ख) **अर्धसम मात्रिक छन्द–** अर्धसम वर्णिक छन्द की तरह ही अर्धसम मात्रिक छन्द में भी पहले और तीसरे चरण से समान मात्राएं एवं यति का नियम होता है तथा द्वितीय एवं चतुर्थ चरणों में पहले और तीसरे चरण से भिन्न समान मात्राएं एवं यति स्थान होते हैं। दोहा, सोरठा आदि छन्द अर्धसम मात्रिक छन्द हैं; यथा–

मेरी भव बाधा हरौ।
ऽऽ ।। ऽ ऽ ।ऽ = 13 मात्राएं

राधा नागरि सोय।।
ऽऽ ऽ।। ऽ। = 11 मात्राएं

जा तन की झाँई परै।
ऽ ।। ऽ ऽऽ।ऽ = 13 मात्राएं

श्याम हरित दुति होय।।
ऽ। ।।। ।। ऽ। = 11 मात्राएं

उपर्युक्त पंक्तियों में प्रथम एवं तृतीय चरणों में तेरह-तेरह मात्राएं हैं और अंत में लघु गुरु का क्रमशः नियोजन है। दो-दो चरणों की समानता के कारण अर्धसम मात्रिक छन्द है और ग्यारह एवं तेरह मात्राओं के कारण दोहा छन्द है।

(ग) **विषम मात्रिक छन्द–** जिस छन्द के चारों चरणों की कुल मात्राएं पृथक-पृथक हों तो वहां पर विषम मात्रिक छन्द होता है। कभी-कभी दो चरण समान मात्रिक भी हो जाते हैं या रखे जाते हैं। उदाहरण–

कैसा मादक क्षण था।
ऽ ऽ ऽ।। ।। ऽ =12 मात्राएं

जब तुम थी रंग अबीर उड़ाती।।
।। ।। ऽ ऽ। ।ऽ। ।ऽ ऽ = 18 मात्राएं

स्मृति उर में भर जाती।
।।।।। ऽ ।। ऽ ऽ=12 मात्राएं

जब ऊषा पतंग उड़ाती।।
।। ऽ ऽ ।ऽ। ।ऽ ऽ = 15 मात्राएं

उपर्युक्त पद्य के प्रथम चरण में बारह मात्राएं, द्वितीय चरण में अठारह मात्राएं, तृतीय चरण में बारह मात्राएं तथा चतुर्थ चरण में पंद्रह मात्राएं होने के कारण वहां विषम मात्रिक छन्द है। इसमें आर्या के लक्षण होने के कारण आर्या छन्द है।

उपरिकथित छन्द-भेदों के अतिरिक्त गाथा एवं दंडक नाम से छन्द के दो और भेद होते हैं–

गाथा

गाथा छन्द उसे कहते हैं जिसमें तीन या छह चरण होते हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक चरण की मात्रा, संख्या या वर्ण संख्या में समानता नहीं पायी जाती तथा जहां लघु-गुरु का क्रम भी विलक्षण होता है उसे गाथा छन्द कहते हैं। कुछ गाथाएं तो नौ-नौ चरणों की भी होती हैं। संस्कृत के आर्यादि छन्द गाथा के ही रूप हैं। पालि-प्राकृतादि भाषाओं में गाथा को ही काहा कहा जाता है।

दण्डक छन्द

वर्णिक छन्दों में एकाक्षरात्मक छन्द से लेकर छब्बीस अक्षरों तक के छन्द के नाम तो छन्दशास्त्रियों ने निर्धारित किए हैं किंतु छब्बीस से अधिक अक्षरों वाले छन्दों को उन्होंने दण्डक छन्द कहा है। उनके पृथक-पृथक 'चण्डवृष्टिप्रपात' आदि नाम भी रखे गए हैं किंतु इन्हें सामान्यतया दंडक नाम से ही अभिहित किया जाता है। उदाहरण--

पात भरी सहरी, सकल सुत बारे-बारे,
ऽ। ।ऽ ।।ऽ । ।।। । ऽ ।ऽ ।ऽ

केवट की जाति, कछु वेद न पढ़ाइ हौ।
ऽ।। ऽ ऽ । ।। ऽ। । ।ऽ। ऽ = 31

मेरो परिवार सब याहि लागि राजा जू! हौ,
ऽऽ ।।ऽ। ।। ऽ ऽ ऽ। ऽ ऽ ऽ ऽ

दीन वित्त हीन, कैसे दूसरी गठाइहौ।।
ऽ। ऽ। ऽ। ऽ ऽ ऽ।ऽ ।ऽऽऽ = 31

गौतम की घरनी ज्यों तरनी तरैगी मेरी,
ऽ।। ऽ ।।। ऽ ।।ऽ ।ऽऽ ।ऽ

प्रभु सौ निषाद ह्वै के बाद न बढाइहौं।।
।। ऽ ।ऽ। ऽ ऽ ऽ। । ।ऽ।ऽ = 31

तुलसी के ईस राम, रावरे सो साची कहौं,
।।ऽ । ऽ। ऽ। ऽ।ऽ ऽ ऽ ऽ ।ऽ

बिना पग धोय नाथ, नाव न चढ़ाइहौं।।
।ऽ ।। ऽ। ऽ। ऽ। । ।ऽ।ऽ = 31

उपर्युक्त पद्य के प्रत्येक चरण में इकतीस वर्ण हैं तथा क्रमशः आठ, आठ, आठ और सात पर यति है। यह पद्य क्योंकि छब्बीस वर्णों से अधिक वर्णों से बना है अतः दंडक वर्ग का है और इकतीस वर्णों का तथा आठवें वर्णों पर एवं अंत में सातवें वर्ण पर यति होने से यह मन हरण कवित्त है।

शेष छन्दों के नाम-वर्ण संख्या के क्रम से-

1. उला
2. अत्युला
3. मध्या
4. प्रतिष्ठा
5. सुप्रतिष्ठा
6. गायत्री
7. उष्णिक

टिप्पणी

8. अनुष्टुप
9. बृहती
10. पंक्ति
11. त्रिष्टुप
12. जगती
13. अति जगती
14. शक्वरी
15. अति शक्वरी
16. अष्टि
17. अत्यष्टि
18. धृति
19. अतिधृति
20. कृति
21. प्रकृति
22. आकृति
23. विकृति
24. संकृति
25. अतिकृति
26. उत्कृति।

3.2.3 कविता में छन्द का स्थान

भावों को आच्छादित कर समष्टि स्वरूप में लाने के कारण छन्दों की कविता में योगदान अत्यंत अहम है। निम्नांकित मूलभूत उद्देश्यों की अभिपूर्ति के लिए कविता में छन्द आवश्यक होते हैं-

1. भावों की अभिव्यक्ति को स्पष्टता देने और तीव्रतर रूप में प्रस्तुत करने के लिए
2. भावों में बिखराव में एकसूत्रता स्थापित करने के लिए।
3. कविता में सजीवता लाने के लिए।
4. कविता में रमणीयता और सौंदर्य की प्रतिष्ठा करने के लिए।
5. कविता को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए।
6. रस-निष्पत्ति के योगदान हेतु।
7. प्रेषणीयता लाने के लिए।
8. कवि के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा के लिए।
9. उक्ति में पवित्रता की प्रतिष्ठा के लिए।

छन्दों का प्रयोग तथा छन्द शब्द की उत्पत्ति वैदिक साहित्य में ही हो गई थी। 'छन्द' शब्द 'छद्' धातु में 'असुन्' प्रत्यय लगाने से बना है। छद् धातु प्रसन्न करना, आच्छादित करना, बांधना आदि अर्थों का बोध कराती है। वैदिक ऋषियों ने प्राकृतिक प्रकोपों से त्राण के लिए मंत्रों की सृष्टि की थी। अत: उन्होंने प्रकृति से बचने के लिए मंत्रों से स्वयं को आच्छादित कर लिया था– संभवत: आरंभ में छन्द शब्द से यही अर्थ ग्रहण किया गया होगा।

'छन्दोग्योपनिषद्' में कहा गया है कि "मृत्यु के डर से देवताओं ने अपने को छन्दों से आच्छादित कर लिया।" साथ ही छन्दों की संगीत-ध्वनि तथा भाव आह्लादक होने से प्रसन्नता का अर्थ-बोध भी रहा होगा और वर्ण-मात्रा आदि का बंधन होने से उसके मूल अर्थ के साथ बंधन या बंध भी लगा है।

वैदिक छन्दों में गायत्री, अनुष्टुप, त्रिष्टुप, वृहती, पंक्ति, जगती जाति के अनेक छन्द पाए जाते हैं। वैदिक छन्दों में मात्रा-विचार नहीं था, केवल अक्षर-गणना तथा ध्वनि-साम्य का ध्यान रखा जाता था। किंतु वैदिक छन्दों में नियमों का अपवाद खूब पाया जाता है। छन्दों की गति स्वरों के आरोह-अवरोह पर आधारित थी। गीतात्मक स्वराघात का विधान भी था।

लौकिक (संस्कृत) छन्दों की शास्त्रीय मीमांसा पिंगल ऋषि ने ही सर्वप्रथम की थी। पिंगल ऋषि ने ही गण-शैली का आविष्कार किया था। संस्कृत-छन्दों का निर्माण इन्हीं गणों के आधार पर अतिशय नियमबद्ध रूप में हुआ। सुनिश्चित गतियों में छन्द ऐसा बंध गया कि भावी विकास की संभावनाएं रूढ़ हो गईं। संस्कृत के गण-क्रमबद्ध वर्ण-वृत्तों में सर्वाधिक नियमबद्धता और जटिलता है।

आगे चलकर प्राकृत-अपभ्रंश में स्थिति परिवर्तित हुई। प्राकृत-अपभ्रंश में मात्रिक छन्दों का विकास हुआ। अपभ्रंश में न केवल मात्रिक छन्दों का स्वतंत्र विकास हुआ, अपितु कवियों ने मिश्र छन्दों का प्रयोग भी आरंभ किया। दो छन्दों को मिलाकर कविता रचने की प्रवृत्ति भी विकसित हुई– जैसे छ: पदों के छप्पय, कुण्डलियां छन्द। अपभ्रंश साहित्य में संस्कृत के वर्ण-छन्दों का प्रयोग बहुत कम हुआ है। पढ़डिया और धन्ता के योग की छन्दशैली, जो दोहा-चौपाई शैली के रूप में हिंदी में विकसित हुई, अपभ्रंश साहित्य की ही देन है।

मध्ययुगीन हिंदी साहित्य को अपभ्रंश से ही छन्द परंपरा प्राप्त हुई। 'पृथ्वीराज-रासो' में लगभग 60 छन्दों का प्रयोग हुआ है जिनमें आधे से अधिक मात्रिक छन्द हैं। दोहा, चौपाई, सोरठा, रोला आदि छन्दों का हिंदी में खूब विकास हुआ। साथ ही हिंदी में कई नए छन्द प्रचलित हुए, जैसे- बरवै, गीत शैली आदि। हिंदी में लोकगीतों के आधार पर गीत शैली का प्रचलन एक अद्‌भुत घटना है। गीत हिंदी की सर्वलोकप्रिय शैली है।

लोकगीतों की लय पर ही हिंदी में कविता, सवैया आदि कुछ ऐसे वर्ण-छन्दों का विकास हुआ जिनमें गण-गणना के नियम शिथिल हो गए थे। सूफी काव्यों, रामचरितमानस, सूरसागर आदि में अपभ्रंश के कडवक का प्रयोग मिलता है। जायसी ने चौपाई कडवक में चौदह चरण रखे हैं और धन्तों के स्थान पर दोहों का प्रयोग किया है। मात्राओं के आधार पर जो गीत परंपरा सिद्ध साहित्य में प्रचलित हुई, उसका समुचित विकास हिंदी की बहुत बड़ी विशेषता है।

हिंदी में वर्ण-छन्द बहुत ही कम रह गए। 'मानस' में त्रोटक, भुजंगप्रयात आदि का कहीं-कहीं प्रयोग मिलता है। रीतिकाल में केशव ने प्रयोग के लिए कुछ वर्ण छन्द रचे हैं।

कवित्त-सवैये का विकास भी हिंदी छन्द-शैली की अदभुत देन है। देव ने घनाक्षरी का नया प्रयोग किया। गीत, सवैया, कवित्त, घनाक्षरी, दोहा, चौपाई, कुण्डलिया, रोला, सोरठा, बरवै आदि छन्द प्राचीन हिंदी के लोकप्रिय छन्द हैं।

आधुनिक काल में हिंदी छन्द परंपरा ने नया मोड़ लिया। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रयास से हिंदी में संस्कृत वर्ण छन्दों का पुनः उद्धार हुआ। अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, रूपनारायण पांडे, नाथूराम शर्मा, शंकर आदि अनेक कवियों ने संस्कृत के वर्ण-छन्दों की रचना की। किंतु संभवतः वर्ण छन्दों के कड़े-गण-क्रम का नियम हिंदी की आश्लिष्ट प्रकृति के प्रतिकूल था। इसी से इन छन्दों को लोकप्रियता प्राप्त न हो सकी।

इधर अंग्रेजी-बांग्ला आदि के प्रभाव से द्विवेदी जी ने हिंदी में भी भिन्न तुकांत, अतुकांत प्रवाहात्मक छन्द शैली पर जोर दिया। फलतः छन्दों के अतुकांत प्रयोग की खूब परंपरा चली। प्रसाद आदि कई कवियों ने मिश्र छन्दों का नया निर्माण किया। इसी बीच निराला ने अपने स्वच्छन्द या मुक्त छन्द का निर्माण किया जिसका स्वरूप पीछे बताया जा चुका है। निराला का छन्द फिर भी कुछ छन्द था, उसमें प्रवाह और लय का कुछ स्वतः आवर्तन था, क्योंकि वह घनाक्षरी पर आधारित था, बाद में जो केंचुआ, रबड़, कंगारू, स्वच्छन्द पंक्तियों की कविताएं रची जाने लगीं, उनमें तो सब नियम, बंध आदि ताक पर धरे रह गए।

आजकल के घर-घर बसने वाले कवि तो मनमाना पंक्ति-प्रयोग कर रहे हैं। न उन्हें संगीत से कुछ मतलब है, न लय ताल-गति से। कविता करना कितना आसान हो गया है। मनमाने ढंग से पंक्तियों को छोटा-बड़ा रख लिया जाता है। लय की उपेक्षा भला कविता को कब तक जीवित रखेगी? आज की निःछन्द, नीरस, गद्यवत भाव-रसहीन कविता को देखकर बड़ा दुख होता है।

हिंदी में उर्दू की बहरों को भी मात्रिक छन्द-रूप में उतारा गया, जैसे अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'चोखे चौपदे' में। वर्तमान काल में अतुकांत, रन ऑन लाइन, सॉनेट, स्वच्छन्द छन्द आदि कुछ विदेशी प्रभाव से किए गए प्रयोगों के अतिरिक्त पूर्वकाल में हमारी छन्द शैली प्रायः विदेशी प्रभावों से मुक्त रही। हिंदी पिंगल की दृष्टि से विचार करने पर उर्दू के सभी छन्द मात्रिक प्रतीत होते हैं, क्योंकि उनमें एक गुरु के स्थान पर दो लघु आ सकते हैं। इसलिए उर्दू छन्दों का हिंदी में ध्वनि-साम्य हो सकता है। पारंपरिक काव्य सृजन विश्वासी कवि आधुनिकता पसंद कवियों से चाहते हैं कि वे कविता में लय की उपेक्षा न करें। कविता भी यदि गद्य बन गई- जैसा कि अब हो रहा है तो कविता कहां बचेगी? अतः भिन्न-भिन्न प्रयोग लय-बद्ध छन्दों के निर्माण में दिखाने चाहिए। हम अपनी छन्द परंपरा को भी मिट्टी में न मिलाएं तो अच्छा होगा। नियम बंधन जाने दीजिए, पर गुनगुनाकर तो देख लीजिए कि कविता में स्वर-लय भी कोई बनती है या नहीं।

3.2.4 दोहा, सोरठा, चौपाई, गीतिका, रोला, बरवै, कुण्डलिया तथा सवैया छन्दों के लक्षण और उदाहरण

(1) दोहा

दोहा अर्द्धसम मात्रा-छन्द है। दोहा छन्द के अनेक भेद हैं, उनमें प्रमुख वह दोहा होता है जिसके विषम चरणों अर्थात प्रथम व तृतीय चरण में क्रमशः तेरह-तेरह मात्राएं और सम चरणों

अर्थात द्वितीय एवं चतुर्थ चरणों में ग्यारह-ग्यारह मात्राएं होती हैं। इसके विषम चरणों के प्रारंभ में जगण नहीं रहता तथा सम चरणों के अंत में गुरु और लघु का क्रम रहता है; यथा–

विषम चरण तेरह कला,
।।। ।।। ऽ।। ।ऽ

सम ग्यारह अनुमान।
।। ऽ।। ।।ऽ।

नहीं हो आदि जगण फिर,
।ऽ ऽ ऽ। ।।। ।।

दोहा छन्द सुमान।।
ऽऽ ऽ। ।ऽ।

उपर्युक्त पद्य में विषम चरणों में क्रमशः तेरह-तेरह मात्राएं और सम चरणों में ग्यारह-ग्यारह मात्राएं होने से, आदि में जगण के अभाव और अंत में गुरु-लघु का क्रम रहने के कारण यहां पर दोहा छन्द है।

(2) सोरठा

सोरठा भी दोहे की तरह अर्द्धसम मात्रा-छन्द है। यह छन्द दोहे का विलोम छन्द होता है। यह भी कुल 48 मात्राओं का छन्द है। मात्राओं का क्रम दोहे से उल्टा होता है, इसी से इसे दोहा का उल्टा कहा जाता है। दोहा उलट देने से सोरठा बन जाता है। इसमें पहली-तीसरी पंक्ति में ग्यारह-ग्यारह तथा दूसरी-चौथी में तेरह-तेरह मात्राएं होती हैं। इसकी पहली और तीसरी पंक्तियों के अंत में तुक-साम्य रहता है, दूसरी चौथी के अंत में तुक-साम्य जरूरी नहीं। उपर्युक्त दोहे छन्द की पंक्तियों को उलट कर रख दीजिए अर्थात दूसरी को पहली, पहली को दूसरी तथा चौथी को तीसरी और तीसरी को चौथी बना दीजिए, सोरठा छन्द बन जाएगा।

इसके विषम चरणों के अंत में गुरु-लघु का क्रम रहता है तथा सम चरणों के प्रारंभ में जगण नहीं रहता; यथा–

सम तेरह विषमेश, दोहा, उलटा सोरठा।
।। ऽ।। ।।ऽ। ऽऽ ।।ऽ ऽ।ऽ

राजस्थानी भाषा का यह प्रिय छन्द है। उदाहरण–

लिख कर लोहित लेख
।। ।। ऽ।। ऽ। = 11 मात्राएं

डूब गया है दिन अहा।
ऽ। ।ऽ ऽ ।। ।ऽ = 13 मात्राएं

व्योम-सिन्धु सखि देख,
ऽ। ऽ। ।। ऽ। = 11 मात्राएं

तारक-बुद्बुद् दे रहा।।
ऽ।। ऽ ऽ ऽ।ऽ = 13 मात्राएं

स्पष्ट है कि पहली-तीसरी पंक्ति में ग्यारह-ग्यारह मात्राएं हैं, दूसरी चौथी में तेरह-तेरह मात्राएं हैं। पहली के अंतिम 'लेख' और तीसरी के 'देख' में तुकसाम्य है।

(3) चौपाई

चौपाई-छन्द सम मात्रा छन्द है। जिस पद्य के प्रत्येक चरण में सोलह-सोलह मात्राएं हों, अंत में 'जगण', 'तगण' में से कोई गण न हो तथा चार चतुष्कलों की पूर्ण व्यवस्था हो वहां पर चौपाई छन्द होता है। अंत में दो गुरु हों तो इस छन्द में माधुर्य आ जाता है। कुछ विद्वान इसका कट्टरता से पालन करने की व्यवस्था करते हैं, क्योंकि उपर्युक्त नियम के अनुसार अंत में दो लघु भी हो सकते हैं किंतु दो गुरु हों तो उत्तम रहता है, यथा-

चार चतुष्कल अंगीकारा।
ऽ । । ऽ । । ऽ ऽ ऽ ऽ
1 2 3 4

अन्त जगण तगणा ना कारा।।
ऽ । । । । । ऽ ऽ ऽ ऽ
1 2 3 4

अन्त गुरु दो उचित अधिकारी।
ऽ । । ऽ । । । । ऽ ऽ
1 2 3 4

प्रेम कथा शुभ बोलन हारी।।
ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ ऽ
1 2 3 4

(4 + 4 + 4 + 4 = 16)

(4 + 4 + 4 + 4 = 16)

उपर्युक्त पद्य के चारों चरणों में चार चतुष्कलों के क्रम से सोलह-सोलह मात्राएं होने के कारण यहां पर चौपाई छन्द है।

(4) हरिगीतिका

हरिगीतिका छन्द सम मात्रा-छन्द है। जिस पद्य के प्रत्येक चरण में अट्ठाईस मात्राएं हों, जिन्हें पहले चार पंचकल फिर एक षट्कल और फिर एक गुरु में सजाया गया हो तथा अंत में रगण बनता हो तो वहां पर हरिगीतिका छन्द होता है। इसके प्रत्येक चरण में क्रमशः सोलहवीं और बारहवीं मात्रा पर यति होती है; यथा–

हरिगीतिका अठाईस कल
पंचकल । । ऽ । ऽ । ऽ । ऽ । । । ।
1 2 3

यति सौलह रवि भावता।
। । ऽ । । । । । ऽ । ऽ
4 षट्कल गुरु

अन्त रगण का योग कमनी-
पंचकल ऽ । । । । । ऽ ऽ । । । ऽ
1 2 3

य, कान्त कला कहावता।।
। ऽ । । ऽ । ऽ । ऽ ।
4 षट्कल गुरु

उपर्युक्त दोनों चरणों में अठाईस-अठाईस मात्राएं आई हैं तथा इनमें चार पंचकलों, एक षट्कल और अंत में गुरु का क्रम है। प्रत्येक चरण के अंत में रगण भी बनता है तथा क्रमशः सोलहवीं और बारहवीं मात्राओं पर यति है। अतः यहां पर हरिगीतिका छन्द है।

(5) रोला

'रोला' छन्द अत्यंत लोकप्रिय छन्द है। यह सम मात्रा-छन्द है। यह स्वतंत्र रूप में तो प्रयुक्त किया ही जाता है, छप्पय छन्द के पूर्वांग के रूप में भी आता है। रोला छन्द के प्रत्येक चरण में चौबीस मात्राएं होती हैं। 'प्राकृत पैंगलम्' में गुरु लघु के क्रम के आधार पर इसके तेरह भेद बताए गए हैं। हिंदी में इसका अंत में दो गुरु वाला रूप ही अधिक प्रचलित है। वैसे अंत में दो लघु भी हो सकते हैं। हां! एक लघु नहीं होगा। गुरु एक हो सकता है। इसके प्रत्येक चरण में क्रमशः ग्यारहवीं और तेरहवीं मात्राओं पर यति होती है; यथा–

रोला की चौबीस, कला यति ग्यारह तेरह।
ऽऽ ऽ ऽऽ। ।ऽ ।। ऽ।। ऽ।।
दो लघु

उपर्युक्त पंक्ति में चौबीस मात्राएं हैं, ग्यारहवीं तथा तेरहवीं मात्रा पर यति है और अंत में दो लघु हैं। अतः यहां पर रोला छन्द है।

(6) बरवै

यह अर्धसम मात्रिक छन्द है। इसके विषम चरणों (पहले और तीसरे) में 12 और सम चरणों (दूसरे और चौथे) में 7 मात्राएं होती हैं। सम चरणों के अंत में जगण या तगण आने से मृदुलता में वृद्धि होती है। यति प्रत्येक चरण के अंत में होती है।

गोस्वामी तुलसीदास की प्रसिद्ध कृतियों में एक 'बरवै रामायण' बरवै छन्द में ही रची गई है। इसमें भगवान श्रीराम की कथा है।

चम्पक हरवा अंग मिलि, अधिक सुहाय।
जानि परै सिय हियरे, जब कुंभिलाय।।

मात्रा-विधान की स्थिति को इस उदाहरण से समझते हैं–

बाहर लैके दियवा, बारन जाय।
ऽ।। ऽऽ ।।ऽ ऽ।। ऽ।

(प्रथम चरण- 12 मात्राएं, द्वितीय चरण- 7 मात्राएं)

सासु ननद ढिग पहुंचत, देस बुझाय।
ऽ। ।।। ।। ।।।। ऽ। ।ऽ ।

(तृतीय चरण- 12 मात्राएं, चतुर्थ चरण- 7 मात्राएं)

(7) कुण्डलिया

छः चरणों वाले इस छन्द के प्रत्येक चरण में 24 मात्राएं होती हैं। दोहों के बीच एक रोला मिलाकर कुण्डलिया बनती है। जिस शब्द से कुण्डलिया का आरंभ होता है, समापन भी उसी शब्द से होता है।

कमरी थोरे दाम की बहुतै आवै काम
। । ऽ ऽऽ । ऽ ऽ । ऽऽ ऽ ऽ ऽ । = 24 मात्राएं

खासा मलमल वाफ्ता उनकर राखै मान
ऽ ऽ । । । । ऽ । ऽ । । । । ऽ ऽ ऽ । = 24 मात्राएं

बकुचा बांधे मोर राति को झारि बिछावै
। । ऽ ऽ ऽ । ऽ । ऽ ऽ । । ऽ ऽ = 24 मात्राएं

सबै दिन राखै साथ बड़ी मर्यादा कमरी
। ऽ । । ऽ ऽ ऽ । । ऽ । ऽ ऽ । । ऽ = 24 मात्राएं

(प्रत्येक चरण में 24 मात्राएं हैं और जिस शब्द से आरंभ हुआ है, उसी शब्द से अंत भी हुआ है।)

(8) सवैया

बाईस से लेकर छब्बीस वर्णों तक के चरणों वाले समवर्ण-छन्द को सवैया कहते हैं। यद्यपि इसके अनेक रूप होते हैं जो लगभग 48 बताए जाते हैं। इनमें से कुछ सवैया छन्द इस प्रकार हैं–

(क) मदिरा

संस्कृत भाषा में जिसे मदिरा छन्द कहा जाता है हिंदी में उसे ही सवैया छन्द कहते हैं। अंतर केवल इतना है कि संस्कृत में चारों चरणों में 'तुक' मिलना (अन्त्यानुप्रास) आवश्यक नहीं है; जबकि हिंदी भाषा में तुकान्त या अन्त्यानुप्रास अनिवार्य है। इसका लक्षण इस प्रकार है- जिस पद्य के प्रत्येक चरण में बाईस वर्ण् हों तथा उन्हें सात भगणों और एक गुरु से सजाया गया हो और क्रमशः दसवें और बारहवें वर्णों पर यति हो वहां पर मदिरा या सवैया छन्द होता है; यथा–

सा त भ का र ग का र इ का,
ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ
भ भ भ गु

तब प्यार भरी मदिरा छल की।
। । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ
भ भ भ भ गु

उपर्युक्त पंक्ति में सात भगण और एक गुरु के क्रम से बाईस वर्ण हैं और दसवें तथा बारहवें वर्ण पर क्रमशः यति होने के कारण यहां पर मदिरा छन्द है।

(ख) मत्तगयन्द

जिस पद्य के प्रत्येक चरण में सात भगण और अंत में दो गुरु हों। इसमें क्रमशः बारहवें और ग्यारहवें वर्णों पर यति होती है तथा कुल तेईस वर्ण हों वहां मत्तगयन्द छन्द होता है। कुछ

विद्वान इसे मालती और कुछ इन्दव छन्द कहते हैं। हिंदी में इसे 'सवैया' का ही एक भेद माना जाता है; यथा-

सा त भ का र गुरु द्वय से यति
ऽ ऽ । ऽ । । ऽ ।। ऽ । ।
भ भ भ भ

बारह ग्यारह मत्तगयन्दा।
ऽ ।। ऽ ।। ऽ ।। ऽ ऽ
भ भ भ गु गु

उपर्युक्त पंक्ति में सात भगण और दो गुरुओं के क्रम से तेईस वर्ण आए हैं तथा क्रमशः बारहवें और ग्यारहवें वर्ण पर यति है। अतः यहां पर मत्तगयन्द (सवैया) छन्द है।

(ग) दुर्मिल

जिस पद्य के प्रत्येक चरण में चौबीस वर्ण हों तथा उनका आठ चरण में विन्यास किया गया हो तथा क्रमशः आठवें, छठे और दसवें वर्णों पर यति हो वहां पर दुर्मिल छन्द होता है। हिंदी भाषा में इसे ही दुर्मिल सवैया कहा जाता है; यथा-

यति आठ छहा दस, से शुभरा सगणा,
। । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ
स स स स स

आठ दुर्मिल गावत है।
। । ऽ । । ऽ । । ऽ
स स स

उपर्युक्त पंक्ति में आठ सगणों के क्रम से चौबीस वर्ण आए हैं तथा आठवें, छठे और दसवें वर्णों पर क्रमशः यति है। अतः यहां पर दुर्मिल सवैया है।

(घ) किरीट

जिस पद्य के प्रत्येक चरण में आठ भगणों के क्रम से चौबीस वर्ण स्थापित किए गए हों तथा क्रमशः बारहवें वर्ण पर यति हो वहां पर किरीट (सवैया) होता है, यथा-

आठ भकारान से सजता तब,
ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । ।
भ भ भ भ

द्वादश की यति काम किरीट सु
ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । ।
भ भ भ भ

उपर्युक्त पंक्ति में चौवीस वर्ण आठ भगणों के क्रम से आए हैं तथा क्रमशः बारहवें वर्णों पर यति है। अतः यहां पर किरीट (सवैया) छन्द है।

(ङ) गंगोदक

जिस पद्य के प्रत्येक चरण में आठ रगणों के क्रम से चौबीस वर्ण रखे जाते हैं और प्रत्येक बारहवें वर्ण पर यति होती है वहां पर गंगोदक (सवैया) छन्द होता है, यथा-

अष्टरा राशि गंगोद का ज्ञात है,
ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ
र र र र

छन्द वेदी कड़ी गीत की पूछते।
ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ
र र र र

उपर्युक्त पंक्ति में चौबीस वर्ण और आठ रगण हैं तथा प्रत्येक बारहवें वर्ण पर यति है। अतः यहां पर गंगोदक सवैया है।

(च) सुंदरी

जिस पद्य के प्रत्येक चरण में पच्चीस वर्ण हों, उसमें आठ सगणों के पश्चात एक गुरु हो तथा क्रमशः बारहवें और तेहरवें वर्णों पर यति हो वहां पर सुंदरी (सवैया) छन्द होता है, यथा-

सगणा घर आठ सजा गुरु को दस-दो
। । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ
स स स स स

यति सुंदर-नारि सजाई।
। । ऽ । । ऽ । । ऽ ऽ
स स स गु

उपर्युक्त पंक्ति में क्रमशः आठ सगण और एक गुरु आया है। इसमें पच्चीस वर्ण हैं तथा क्रमशः बारहवें और तेरहवें वर्णों पर यति है। अतः यहां पर 'सुंदरी' सवैया छन्द है।

(9) इन्द्रवज्रा छन्द

यह समवर्ण छन्द है। इस छन्द में कुल ग्यारह वर्ण होते हैं अर्थात इसके प्रत्येक चरण में आगत ग्यारह वर्णों को क्रमशः तगण, तगण, जगण और दो गुरुओं में विन्यस्त किया जाता है; यथा-

हो इन्द्रवज्रा त त जा ग गा से।
ऽ ऽ । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ ऽ
त त ज गु गु

उदाहरण-

तू मंगला मंगल कारिणी है।
सद्भक्त के धाम विहारिणी है।।
माता! सदा पूर्ण पिता समेता।
कीजै हमारे चित में निकेता।।

इस प्रकार चारों पंक्तियों में ग्यारह-ग्यारह वर्ण हैं। इसमें क्रमशः तगण, तगण, जगण और दो गुरु अनुस्यूत हैं तथा पादान्त में यति है। अतः यहां पर इन्द्रवज्रा छन्द है।

(10) मन्दाक्रान्ता

यह समवर्ण छन्द है। इस छन्द के प्रत्येक चरण में सत्तरह वर्ण होते हैं और उन्हें मगण, भगण, नगण, तगण और दो गुरुओं के क्रम में अनुस्यूत किया जाता है। इसके चौथे, छठे और सातवें वर्णों पर यति होती है; यथा-

मन्दाक्रान्ता, म भ न त त गा, गा क हैं छन्द वे दी।
ऽ ऽ ऽ ऽ । । । । । ऽ । ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ
म भ न त त गु गु

उदाहरण–

जो मैं को ई, विहग उड़ता देखती व्योम में हूँ,
तो उत्कण्ठा बरा बितश हो चित्त में सोचती हूँ।
होते मेरे निर्बल तन में, पक्ष जो पक्षियों से,
तो यों ही मैं समुद उड़ती श्याम के पास जाती।।

उपर्युक्त पंक्तियों में मगण, भगण, नगण, तगण और दो गुरु के क्रम से सत्तरह वर्णों का प्रयोग किया गया है तथा इसके चौथे, छठे और सातवें वर्णों के पश्चात यति है; अतः यहां पर मन्दाक्रान्ता छन्द है।

(11) द्रुतविलम्बित या सुन्दरी

यह समवर्ण छन्द है। कवियों का यह अत्यंत प्रिय छन्द है। इसके प्रत्येक चरण में बारह वर्ण होते हैं जिन्हें क्रमशः नगण, भगण, भगण और रगण में ग्रथित किया जाता है। इसके पादान्त में यति होती है। कुछ आचार्य इसे सुन्दरी छन्द भी कहते हैं; यथा–

द्रुतविलम्बित माँहि न भा भ रा।
। । । ऽ । । ऽ । । ऽ । ऽ
न भ भ र

उदाहरण–

दिवस का अवसान समीप था।
गगन था कुछ लोहित हो चला।।
तरुशिखा पर थी अब राजती।
कमलिनी कुल वल्लभ की प्रभा।

उपर्युक्त पंक्तियों में बारह वर्ण हैं जिन्हें क्रमशः नगण, भगण, भगण और रगण में निबद्ध किया गया है। इसके अंत में यति है। अतः यहां पर द्रुतविलम्बित छन्द है।

(12) शार्दूलविक्रीडित छन्द

यह समवर्ण छन्द है। जिस पद्य के प्रत्येक चरण में उन्नीस वर्ण हों और उन्हें मगण, सगण, जगण, सगण, तगण, तगण और एक गुरु के क्रम से सजाया हो तथा क्रमशः बारहवें और सातवें वर्णों पर यति हो वहां पर 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द होता है।

उदाहरण

आ बैठी उर मोहजन्य जड़ता विद्या विदा हो गई?
पाई कायरता मलीन मन कोहा। वीरता खो गई।
जागी दीन दशा दरिद्र पन की श्री सम्पदा सो गई,
माया शंकर की हंसाय हमको रुद्रा ठानी रो गई।।

उपर्युक्त पंक्तियों में मगण, सगण, जगण, सगण दो तगण और एक गुरु के क्रम से उन्नीस वर्ण आए हैं और क्रमशः बारहवें और सातवें वर्ण पर यति है। अतः यहां पर 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द है।

रसानुकूलता-प्रतिकूलता सूचक छन्द-सारिणी

सं.	रस	अनुकूल छंद	प्रतिकूल छंद
1.	शृगार	शार्दूल विक्रीडित, बसन्तलतिका, पृथ्वी, हरिणी, शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता, मालिनी, स्रग्धरा, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, रथोहता, द्रुतविलम्बित	पथ्या
2.	हास्य	रोधक, तोटक, भुजंगप्रयात	पृथ्वी
3.	करुण	मालिनी, द्रुतविलम्बित, मन्दाक्रान्ता, पुष्पिताग्रा	दोधक
4.	रौद्र	शार्दूल विक्रीडित, हरिणी, स्रग्धरा, रथोहता, अनुष्टुम	शिखरिणी
5.	वीर	शार्दूल विक्रीडित, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, वंशस्थ तथा शिखरिणी	प्रशर्षिणी
6.	भयानक	शार्दूल विक्रीडित, स्रग्धरा, पथ्या	मालिनी
7.	वीभत्स	शार्दूल विक्रीडित, स्रग्धरा, वंशस्थ, रथोहता	मन्दाक्रान्ता
8.	अद्भुत	शार्दूल विक्रीडित, नन्दिनी, कुसुमविचित्रा, शालिनी, बसन्तलतिका, इन्द्रव्रजा	शिखरिणी
9.	शान्त	शार्दूल विक्रीडित, शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता	कुसुमविचित्रा

3.3 अलंकार

काव्य शरीर, उसके नित्यधर्म तथा बहिरंग उपकारक का विचार करते हुए अलंकारों का स्थान निर्धारण किया जाता है। अलंकारों की योजना का वास्तविक कारण मन का ओज है। अलंकार कविता-कामिनी के सौंदर्य को बढ़ाने वाले तत्व होते हैं।

3.3.1 अलंकार की अवधारणा

'अलंकार' का सामान्य अर्थ है–गहना या आभूषण जो देह की शोभा बढ़ाते हैं। काव्य के संदर्भ में भी इसे शोभा बढ़ाने वाले धर्म और तत्व के रूप में लिया जाता है। बाह्य तत्व के रूप में काव्य को अलंकृत करने वाले शब्दालंकार तथा धर्म के रूप में शब्द की आत्मा में धारित यानी अर्थ को अलंकृत करने वाले अर्थालंकार। काव्य की आत्मा 'रस' है या अन्य कोई लक्षण इस तर्क-वितर्क के आरंभिक दौर में सर्वप्रथम अलंकार सिद्धांत का जन्म हुआ। काव्य की आत्मा अलंकार है ऐसा मत इस सिद्धांत के अंतर्गत स्थिर हुआ। आचार्य भामह इस संप्रदाय के प्रवर्तक हैं। आचार्य रुद्रट एवं जयदेव ने इस सिद्धांत को प्रतिष्ठा प्रदान की।

'अलंकार' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जाती है–(1) **अलंक्रियते अनेन इति अलंकारः** और (2) **अलंकरोति इति अलंकारः**। पहली व्याख्या के अनुसार अलंकार की प्रतिष्ठा एक उपादान या 'करण' के रूप में सिद्ध होती है और यह काव्य के मूल से उसका पार्थक्य बताती है।

वैदिक ऋषियों ने सर्वप्रथम ऋग्वेद में वाक्-सूक्त के आठ मंत्रों में इस विषय को प्रतिपादित किया है कि 'वाक् तत्व (भाषा) ही वह दिव्य ज्योति है, जो मानव को ऋषि, देवता अथवा विद्वान बनाती है।' वस्तुतः मानव अपने भावों को प्रकट करने हेतु जिस सार्थक मौखिक माध्यम का आश्रय लेता है वही 'भाषा' कहलाती है। यद्यपि संकेत आदि के द्वारा भी भावों की अभिव्यक्ति संभव है, किंतु भावों तथा विचारों को स्पष्ट करने का माध्यम भाषा ही है।

भाषा ही वह सर्वोत्तम साधन है, जिसके द्वारा सभी लौकिक कार्य सिद्ध हो जाते हैं। यह ज्ञान का मूलभूत साधन है। मानव का आंतरिक तथा बाह्य कार्य, चिंतन-मनन-अभिव्यंजन, वैयक्तिक और सामाजिक कार्यों के लिए भाषा की सहायता ली जाती है। ज्ञान-विज्ञान, धर्म-दर्शन, आचार-विचार, हेय-उपादेय का विवेक, सभी का आधार भाषा है। अतः भाषा सर्वत्र अनुस्यूत है। इस तथ्य को स्पष्ट एवं उसकी सर्वोत्कृष्टता का उल्लेख करते हुए वाक्यपदीयकार भर्तृहरि कहते हैं कि–

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद् ऋते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥ **(वाक्यपदीय-1.124)**

इससे ज्ञात होता है कि व्यावहारिक दृष्टि से भाषा की कितनी उपयोगिता है। भाषा के महत्व को स्वीकार करते हुए अनेक जिज्ञासाएं प्रकट होती हैं कि भाषा क्या है? भाषा की उत्पत्ति कैसे हुई? इसका निर्माण किस प्रकार होता है? इसका प्रयोग किस प्रकार होता है? इसके कौन-कौन से अवयव हैं, इसको किस प्रकार उच्चारित किया जाता है? आदि।

आज जिसे हम हिंदी कहते हैं, वह शौरसेनी का ही विकसित रूप है। इसका जन्म समय 1000 ई. के लगभग माना जा सकता है, क्योंकि चौदहवीं सदी तक साहित्य में अपभ्रंश का प्रयोग होता रहा है और वर्तमान आर्य भाषाओं का साहित्य में प्रयोग तेरहवीं शताब्दी के आदि से आरंभ हो गया था। साहित्यिक रूप लेने में किसी भी भाषा को कुछ समय तो लगता ही है। अत: इस आधार पर हिंदी का जन्म दसवीं शताब्दी में हुआ, ऐसा माना जा सकता है।

नागरी लिपि बौद्धिक, वैज्ञानिक एवं राष्ट्रीय लिपि है। नागरी अर्थात नगर के बुद्धिमान, चतुर, शिष्ट जनों के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्द को भी इसके नामकरण का एक कारण मान सकते हैं। शिक्षा शास्त्रियों एवं भाषा वैज्ञानिकों ने इसकी वैज्ञानिकता की सराहना की है। नागरी को देवनागरी कहा जाता है। भारतीय सभ्यता के विकास में देवनागरी लिपि का महत्वपूर्ण स्थान है।

इस इकाई में हम भाषा, हिंदी भाषा एवं देवनागरी लिपि से संदर्भित अहम तथ्यों का अध्ययन करेंगे।

4.1 इकाई के उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- भाषा की अर्थवत्ता, वैशिष्ट्य एवं स्वरूप को समझ पाएंगे;
- हिंदी भाषा एवं पुरानी हिंदी से संबंधित अहम तथ्यों से अवगत हो पाएंगे;
- भाषा और बोली में अंतर कर पाएंगे;
- हिंदी की प्रमुख बोलियों से परिचित हो पाएंगे;
- देवनागरी लिपि से परिचित होते हुए उसकी विशेषताओं को समझ पाएंगे;
- देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता स्पष्ट कर पाएंगे।

4.2 भाषा की परिभाषा एवं विशेषताएं

भाषा के प्रयोजन की विविधता के कारण ही हम भाषा को विभिन्न संदर्भों में देखते हैं। कुछ विद्वान इसे मानव मन की सर्जनात्मक शक्ति के रूप में देखते हैं, तो कुछ मानव व्यवहार की सामाजिक शक्ति के रूप में।

4.2.1 भाषा की परिभाषाएं

भाषा के विषय में विभिन्न विद्वानों ने अपनी-अपनी दृष्टि से विचार किया है एवं विभिन्न भाषाविदों ने भाषा की भिन्न-भिन्न परिभाषाएं प्रस्तुत की हैं, जिनमें से मुख्य परिभाषाएं इस प्रकार हैं–

1. डॉ. श्यामसुंदर दास के अनुसार–"विचारों की अभिव्यक्ति के लिए व्यक्त ध्वनि संकेतों के व्यवहार को भाषा कहते हैं।"

2. डॉ. बाबू राम सक्सेना के अनुसार–"जिन ध्वनि-चिह्नों द्वारा मनुष्य परस्पर विचार विनिमय करता है, उनके समष्टि रूप को 'भाषा' कहते हैं।

3. हेनरी स्वीट (Henry Sweet) के शब्दों में–"ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा विचारों को प्रकट करना ही भाषा है।"

4. प्लेटो के अनुसार- "विचार और भाषा में थोड़ा ही अंतर है। विचार, आत्मा की मूक या अध्वन्यात्मक बातचीत है, पर वही जब ध्वन्यात्मक होकर होठों पर प्रकट होती है, तो उसे भाषा की संज्ञा देते हैं।"

5. वेंद्रिय के शब्दों में–"भाषा एक तरह का संकेत है। संकेत का आशय, उन प्रतीकों से है जिनके द्वारा मानव अपने विचार दूसरों पर प्रकट करता है। ये प्रतीक कई प्रकार के होते हैं, जैसे–नेत्रग्राह्य, कर्णग्राह्य और स्पर्शग्राह्य। वस्तुतः भाषा की दृष्टि से कर्णग्राह्य प्रतीक ही सर्वश्रेष्ठ है।"

6. महर्षि पतंजलि के अनुसार- "व्यक्ता वाचि वर्णा येषां ते इमे व्यक्त वाचः।" अर्थात भाषा वह साधन है जिसके द्वारा मनुष्य अपने विचार दूसरों के समक्ष भली-भांति प्रकट कर सकता है और दूसरों के विचार स्वयं स्पष्ट रूप से समझ सकता है। (महाभाष्य-1.3.38)

7. चॉम्स्की के शब्दों में–"I will consider a language to be a set (finite or infinite) of sentences, each finite in length and constructed of a finite set of elements."

8. ब्लॉक तथा ट्रेगर के शब्दों में–"A language is a system of arbitrary vocal symbols by means of which a social group cooperates."

9. डॉ. पी.डी. गुणे के अनुसार- "भाषा का व्यापकतम रूप में अर्थ है कि हमारे विचारों और भावनाओं को व्यक्त करने वाले संकेत देखे या सुने जा सकें और जो इच्छानुसार उत्पन्न किए एवं दोहराए जा सकें।"

10. A.H. Gardiner के अनुसार–"विचारों की अभिव्यक्ति के लिए व्यक्त ध्वनि संकेत ही भाषा है।" (The common definition of speech is the use of articulate sound-symbols for the expression of thought.)

11. Mario Apei तथा Frank Gayhor के अनुसार- "भाषा उन सार्थक और विश्लेषण समर्थ मानवोच्चारित ध्वनियों को कहते हैं, जिनका प्रयोग मानव, विचारों और भावों को व्यक्त करने के लिए करता है।"

12. डॉ. भोलानाथ तिवारी के अनुसार–"भाषा उच्चारण अवयवों से उच्चरित अध्ययन विश्लेषणीय यादृच्छिक ध्वनि प्रतीकों की वह व्यवस्था है, जिसके द्वारा एक समाज के लोग परस्पर भावों और विचारों का आदान-प्रदान करते हैं।"

13. डॉ. मंगलदेव के शब्दों में–"भाषा मनुष्यों की उस चेष्टा या व्यापार को कहते हैं, जिससे वे अपने उच्चारणोपयोगी शरीरावयवों से उच्चरित शब्दों के द्वारा अपने विचारों को प्रकट करते हैं।"

14. सपीर के शब्दों में–"Language is a purely human and non-instinctive method of communicating ideas, emotions and desires by means of voluntarily produced symbols.

15. जेस्परसन के अनुसार- "मनुष्य ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा अपने विचार प्रकट करता है। मानव मस्तिष्क वस्तुत: विचार प्रकट करने के लिए ऐसे शब्दों का निरंतर उपयोग करता है। इस प्रकार के कार्य-कलाप को ही भाषा की संज्ञा दी जाती है।"

16. इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका में कहा गया है–"Language may be defined as an arbitrary system of vocal symbols by means of which human beings, as members of a social group and participants in culture interact and communicate."

17. मैक्समूलर के अनुसार–"भाषा और कुछ नहीं है, केवल हमारी चतुरबुद्धि द्वारा आविष्कृत ऐसा उपाय है, जिसकी मदद से हम अपने विचार सरलता से दूसरों के समक्ष प्रकट कर सकते हैं। इसकी व्याख्या प्रकृति की उपज के रूप में नहीं बल्कि मनुष्य कृत पदार्थ के रूप में करना उचित है।"

18. संस्कृत विद्वानों ने भी भाषा की परिभाषा की है। उन्होंने भाषा की परिभाषा करते समय अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव दोषों से बचने की सलाह दी है।

न्यायशास्त्र के अनुसार–

तदेव हि लक्षणं यद्व्याप्ति-अतिव्याप्ति
असंभवरूपदोषत्रय शून्यम्।

आचार्य कपिल ने भाषा के लिए कहा है–

स्फुटवाक्करणोपात्तो, भावाभिव्यक्तिसाधकः
संकेतितो ध्वनिव्रातः सा भाषेत्युच्यतेबुधैः॥

महर्षि पतंजलि के अनुसार–

"व्यक्ता वाचि वर्णा येषां त इमे व्यक्तवाचः"

भर्तृहरि के अनुसार–

"शब्द कारणमर्थस्य स हि तेनोपजाएते"

तथा

"च बुद्धिविषयादर्थाच्छब्दः प्रतीयते।"
"बुद्धयर्थादेव बुद्धर्थे जाते तदानि दृश्यते।"

अमरकोष में कहा गया है–

"ब्रह्मा तु भारती भाषा गीर् वाक् वाणी सरस्वती।"

सुकुमार सेन के अनुसार–

"अर्थवान कंठोद्गीर्ण ध्वनि-समष्टि ही भाषा है।"

पं. कामताप्रसाद गुरु के अनुसार–"भाषा वह साधन है जिसके द्वारा मनुष्य अपने विचार दूसरों के समक्ष भली-भांति प्रकट कर सकता है और दूसरों के विचार स्वयं स्पष्टतया समझ सकता है।"

आचार्य किशोरीदास बाजपेयी के अनुसार–"विभिन्न अर्थों में संकेतिक शब्द समूह ही भाषा है, जिसके द्वारा हम अपने विचार या मनोभाव दूसरों के प्रति बहुत सरलता से प्रकट करते हैं।"

आचार्य देवेंद्रनाथ शर्मा के अनुसार–"उच्चरित ध्वनि संकेतों की सहायता से भाव या विचार की पूर्ण अभिव्यक्ति भाषा है।"

डॉ. सरयूप्रसाद अग्रवाल के अनुसार–"भाषा वाणी द्वारा व्यक्त स्वच्छन्द प्रतीकों की वह रीतिबद्ध पद्धति है, जिससे लोग समाज में अपने भावों का परस्पर आदान-प्रदान करते हुए एक दूसरे को सहयोग देते हैं।"

डॉ. देवीशंकर द्विवेदी के अनुसार–"भाषा यादृच्छिक वाक्य प्रतीकों की वह व्यवस्था है जिसके माध्यम से मानव समुदाय परस्पर व्यवहार करता है।"

पी.डी. गुणे के अनुसार- "ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा हृदयगत भावों तथा विचारों का प्रकटीकरण भाषा है।"

डॉ. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव के अनुसार- "भाषा वागेन्द्रिय द्वारा निस्सृत उन ध्वनि प्रतीकों की संरचनात्मक व्यवस्था है, जो अपनी मूल प्रकृति में यादृच्छिक एवं रूढ़िपरक होते हैं और जिसके द्वारा किसी भाषा समुदाय के लोग अपने अनुभवों को व्यक्त करते हैं, अपने विचारों को संप्रेषित करते हैं और अपनी सामाजिक अस्मिता, पद तथा अंतर्वैयक्तिक संबंधों को सूचित करते हैं।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि अपनी प्रकृति में भाषा प्रतीकों की व्यवस्था है।

प्रतीक क्या है?

प्रतीक वह वस्तु है, जो किसी के लिए कही अन्य वस्तु के स्थान पर प्रयुक्त होते हैं जिसके बारे में सी.एस. पीयर्स ने कहा है–"A sign is something that stands to some body for something else in some respect or capacity." जब हम 'घोड़ा' शब्द के रूप में विचार करते हैं, तब उसको भी प्रतीकवत् प्रयुक्त पाते हैं। उच्चरित या लिखित रूप में शब्द घोड़ा, स्वयं घोड़ा नहीं होता। वह तो घोड़ा-वस्तु के लिए प्रयुक्त प्रतीकजन्य वह भाषिक वस्तु है, जिसे उसके प्रयोगकर्ता वास्तविक घोड़े के स्थान पर व्यवहार में लाते हैं।

प्रतीक की धारणा त्रिवर्गीय संकेतन संबंधों पर आधारित है। इन संबंधों का निर्माण तीन इकाइयों का आधार है, जिन्हें हम 'संकेतित वस्तु', 'संकेतार्थ' और 'संकेत प्रतीक' कह सकते हैं। संकेतित वस्तु बाह्य जगत में स्थिर इकाई है; जैसे घोड़ा, पुस्तक, फोन आदि। प्रयोगकर्ता के मन में स्थित उस इकाई की संकल्पना ही 'संकेतार्थ' है। इस संकेतार्थ को अभिव्यक्त करने वाली इकाई 'प्रतीक' है, जो संकेतित वस्तु के स्थान पर कुछ विशेष संदर्भों में प्रयुक्त होती है।

संकेतित वस्तु (बाह्य जंगल में स्थित घोड़ा)

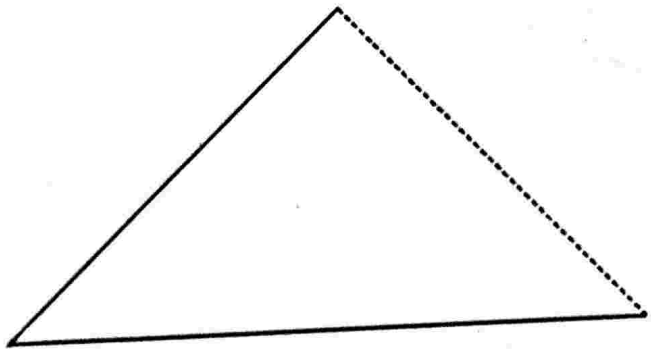

संकेतार्थ

प्रतीक

(प्रयोगकर्ता के मन में स्थित घोड़ा)

(-शब्द रूप में प्रयुक्त घोड़ा)

यह ध्यातव्य है कि संकेतित वस्तु और संकेतार्थ में सीधा संबंध है, संकेतार्थ और प्रतीक के बीच का भी संबंध सीधा है, लेकिन संकेतित वस्तु और प्रतीक का संबंध सहज और सीधा नहीं है। प्रतीक सीधे वस्तु की ओर संकेतित नहीं करता, बल्कि उसको संकेतित करने के लिए उसे संकेतार्थ का रास्ता चुनना पड़ता है। संकेतित वस्तु और प्रतीक का संबंध आरोपित होता है। उपर्युक्त आरेख में संकेतार्थ और संकेतित वस्तु का सीधा संबंध और संकेतित वस्तु और प्रतीक का संबंध आरोपित है। संकेतार्थ के निर्माण में केवल बाह्य जगत की वस्तुएं ही अपना योग नहीं देतीं, अपितु व्याख्याता या प्रयोगकर्ता का जातीय इतिहास, उसकी सभ्यता और संस्कृति भी अपना योग देती है। इसीलिए भाषिक प्रतीक के रूप में प्रयुक्त शब्दों का सामाजिक एवं सांस्कृतिक अर्थ भी हुआ करता है। जैसे 'देवी' शब्द हिंदू समाज और हिंदू संस्कृति का बोधक है जबकि 'मल्लिका' शब्द जिस संस्कृति का द्योतक है वह 'देवी' के सामाजिक अर्थ से भिन्न है।

सस्यूर के अनुसार, भाषा की प्रत्येक सार्थक इकाई एक भाषिक प्रतीक है। वह भाषिक प्रतीक को कथ्य और अभिव्यक्ति की संश्लिष्ट इकाई के रूप में मानते हैं। प्रतीक का संकेतार्थ काव्य से है और अभिव्यक्त इस संकेतार्थ को व्यक्त करने वाले ध्वनि समूह से। यदि घोड़ा शब्द एक भाषिक प्रतीक है, तब कथ्य इस शब्द का संकेतार्थ माना जाएगा जबकि अभिव्यक्त इस शब्द का ध्वनि संयोजन-घ+ओ+ड़+आ। यह कथ्य और अभिव्यक्ति का एकीकरण ही होता है कि अभिव्यक्ति के अभाव में कथ्य पक्ष, प्रतीक रूप में सिद्ध नहीं माना जा सकता। एक के बिना दूसरे की संकल्पना नहीं की जा सकती। मन में किसी प्रतीक के अभिव्यक्ति पक्ष के आने के साथ ही उसका कथ्य पक्ष भी तुरंत उत्पन्न होता है; जैसे घोड़ा या पुस्तक शब्द सुनते ही श्रोता की कल्पना में उसके कथ्य यथा घोड़ा या पुस्तक की संकल्पना उसी समय उभर आती है।

भाषिक प्रतीक अपनी मूल प्रकृति में ध्वनिपरक होता है। अपने अभिव्यक्ति पक्ष के लिए भाषिक प्रतीक जिस माध्यम को अपनाता है, उसका आधार वागेन्द्रिय होता है। वक्ता भाषिक प्रतीक का सहारा लेकर वक्ता के रूप में शब्दों का उच्चारण करता है, श्रोता के रूप में दूसरा व्यक्ति उसे सुनता है। अपने विचारों को दूसरे तक संप्रेषित करने के लिए मनुष्य अनेक संकेतों; जैसे झंडा दिखाकर, सीटी बजाकर, हाथ हिलाकर – का सहारा ले सकता है, पर उसे सही अर्थों में न तो भाषिक प्रतीक कहा जा सकता है न भाषा।

भाषिक प्रतीक का अभिव्यक्ति माध्यम मनुष्यों की वागेन्द्रिय से निस्सृत ध्वनियां हैं। भाषिक प्रतीक अपनी मूल प्रकृति में ध्वनिपरक होता है, परंतु प्रत्येक ध्वनि प्रतीक, भाषिक नहीं होता। ताली, चुटकी बजाकर हम अपने मनोभावों को व्यक्त कर सकते हैं, परंतु ये ध्वनि प्रतीक भाषिक प्रतीकों के अंतर्गत नहीं आते। भाषिक प्रतीक जिस ध्वनि को अपना अभिव्यक्ति माध्यम बनाता है, वह वागेन्द्रिय द्वारा निस्सृत होना चाहिए।

भाषिक प्रतीक कथन और अभिव्यक्ति के संबंधों की प्रकृति पर आधारित होते हैं। ये सामान्यत: तीन प्रकार के होते हैं–(1) प्रतिमापरक (2) संकेतपरक (3) सामान्य।

1. जिन प्रतीकों में कथ्य और अभिव्यक्ति के संबंधों का आधार सादृश्य होता है, वे प्रतिमापरक होते हैं। किसी देश का चित्र सादृश्य तत्व के आधार पर संकेतार्थ को व्यक्त करता है।

2. सूचनापरक या संकेतपरक प्रतीक– जब कथ्य और अभिव्यक्ति के बीच के संबंधों का आधार कार्य-कारण का सहज और प्राकृतिक संबंध रहता है। बादलों का गर्जन-तर्जन वर्षा एवं तूफान की सूचना देता है, धुआं आग का प्रतीक है।

3. सामान्य प्रतीक में काव्य और अभिव्यक्ति में कोई प्राकृतिक संबंध नहीं होता। इन प्रतीकों में कथ्य और प्रतीक के बीच संबंधों की प्रकृति यादृच्छिक और रूढ़िपरक होती है।

भाषिक प्रतीक अपनी प्रकृति में मूलत: सामान्य (यादृच्छिक और रूढ़िपरक) होता है। इसीलिए एक ही कथ्य के लिए भिन्न-भिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न अभिव्यक्ति रूप मिलते हैं। अभिव्यक्ति और कथ्य में यादृच्छिक संबंधों के परिणामस्वरूप अभिव्यक्ति पक्ष में परिवर्तन के बिना ही भाषिक प्रतीकों के संकेतार्थ में परिवर्तन आ जाता है। भाषिक प्रतीकों में पाए जाने वाले अर्थ विस्तार एवं अर्थ संकोच इसके स्पष्ट उदाहरण हैं।

प्रतीकों की व्यवस्था

भाषा प्रतीकों की सार्थक व्यवस्था है। भाषा वाक्य या भाषिक प्रतीकों की शृंखला तो होती है पर भाषिक प्रतीकों की हर कड़ी भाषा या वाक्य का दर्जा नहीं पाती। प्रत्येक मातृभाषी अपनी भाषा में प्रयुक्त प्रतीकों की व्यवस्था को ज्ञात या अज्ञात रूप में पहचानता है और उसके आधार पर उन भाषिक प्रतीकों को पहचानने में सक्षम होता है, जो मान्य होते हैं।

प्रतीक भाषा की वह व्यवस्था है, जिसके अंतर्गत किसी शब्द विशेष का एक निश्चित अर्थ होता है। यह अर्थ शब्द के गुण से नितांत भिन्न होता है। प्रतीक शब्द के अनिवार्य गुण या धर्म से भिन्न अपनी सत्ता स्वतंत्र रखता है। प्रतीक मूल नहीं होता, वह किसी अन्य पदार्थ (भाव आदि) के लिए प्रयुक्त होता है। प्रतीक में मूल पदार्थ को अनुभव करने की शक्ति होती है। प्रतीक पद्धति का प्रयोग करने वाले लोगों के बीच एक ऐसा आंतरिक समझौता होता है, जिसके अंतर्गत एक व्यक्ति जिस आशय से किसी प्रतीक का प्रयोग करता है, दूसरा व्यक्ति उस प्रतीक से वही आशय ग्रहण करता है। घोड़ा, पुस्तक आदि शब्द रचनात्मक प्रतीक हैं जो एक मान्यक्रम में प्रयुक्त होकर एक निश्चित अर्थ देते हैं, जिन्हें भाषा के प्रयोक्ता उसी अर्थ में बोलते और सुनते हैं। अत: भाषाई ध्वनियां वे प्रतीक हैं, जो अपने द्वारा किसी दूसरे आशय को अभिव्यक्त करती हैं।

भाषिक प्रतीकों की व्यवस्था सापेक्ष होती है और हर व्यवस्था की तरह कुछ संरचनात्मक नियमों की अपेक्षा रखती है। अर्थात प्रत्येक भाषा के अपने नियम होते हैं, जिन नियमों के अनुसार भाषिक प्रतीक कड़ी के रूप में व्यवस्थित होते हैं जैसे हिंदी में कर्ता + कर्म + क्रिया (मैं आम खा रहा हूं) के क्रम का निर्वाह करते हुए हिंदी भाषी बोलता है तो अंग्रेजी में कर्ता + क्रिया + कर्म (I am eating mango) की व्यवस्था का निर्वाह किया जाता है। भाषिक प्रतीकों के क्रम का नियम हिंदी में कर्म को 'क्रिया' के पहले रखता है, जबकि अंग्रेजी में उसे क्रिया के बाद लाता है।

4.2.2 भाषा की विशेषताएं

भाषा का मानव जीवन के साथ घनिष्ठ संबंध है। मनुष्य अपने हृदयस्थ विचारों को भाषा के माध्यम से ही अन्य व्यक्ति तक पहुंचाने की चेष्टा करता है, यद्यपि अन्य साधन भी प्रयोक्तव्य है। यथा मूक बधिर मनुष्य हाथों के संकेतों के द्वारा अपने भावों तथा विचारों को प्रकट करता है। गार्ड भी लाल या हरी झंडी के माध्यम से ट्रेन के रोकने या चलने का संकेत प्रदान करता है। पशु एवं पक्षी भी अपनी भाषा के द्वारा अपने विचारों को परस्पर प्रकट करते हैं। परंतु हमारा प्रयोजन भाषा के व्यापक अर्थ से न होकर मानव के द्वारा प्रयुक्त सार्थक वाणी से है, जिसके माध्यम से वह अपने भावों तथा विचारों को प्रकट कर सकें।

इसमें न तो हम मानवेतर प्राणियों की भाषा का अध्ययन करते हैं और न ही मनुष्य के सांकेतिक व्यवहारों का, अपितु भाषा विज्ञान में हम केवल मौखिक भाषा, मानव कंठ से निःसृत भाषा तथा ऐसी ध्वनियों का, जिनके द्वारा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को अपने विचार बताता है, अध्ययन करते हैं। हमें वे ध्वनियां अभिप्रेत हैं, जिनमें आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि विद्यमान हो। वस्तुतः भाषा विज्ञान में जो भाषा अभीष्ट है, वह सांकेतिक आदि से अलग मनुष्य की व्यक्त वाणी है। भाषा शब्द की व्युत्पत्ति पर ध्यान देने से इस अर्थ की पुष्टि होती है।

भाषा शब्द संस्कृत की भाष् (भ्वादिगणी) धातु से निष्पन्न हुआ है। भाष् धातु का अर्थ है व्यक्त वाणी (भाष् व्यक्तायां वाचि)। 'भाष्यते व्यक्तवाग् रूपेण अभिव्यंज्यते इति भाषा' अर्थात व्यक्त वाणी के रूप में जिसकी अभिव्यक्ति की जाती है, उसे भाषा कहते हैं। वस्तुतः पशु आदि की बोली व सांकेतिक अर्थों में भाषा शब्द का प्रयोग गौण रूप में होता है, मुख्य रूप में भाषा शब्द का तात्पर्य मनुष्य की व्यक्त वाणी से है, क्योंकि इस व्यक्त भाषा के द्वारा सूक्ष्मातिसूक्ष्म मानवीय भावों को प्रकट किया जा सकता है।

कपिलदेव द्विवेदी के मत में भाषा से तात्पर्य है–

स्फुटवाक्करणोपात्तो भावाभिव्यक्तिसाधकः।
संकेतितो ध्वनिव्रातः सा भाषोत्युच्यतेबुधैः॥

भाषा विज्ञान की दृष्टि से हम भाषा की परिभाषा इस प्रकार करते हैं–भाषा यादृच्छिक वाचिक ध्वनि संकेतों की वह पद्धति है, जिसके द्वारा मानव परस्पर विचारों का आदान-प्रदान करता है। भाषा के वैशिष्ट्य को इस प्रकार व्याख्यायित किया जा सकता है–

1. **भाषा एक पद्धति है**– भाषा एक सुसंबद्ध तथा सुव्यवस्थित योजना अथवा संघटना है जिनमें कर्ता, कर्म, क्रिया आदि व्यवस्थित रूप में आ सकते हैं। सुव्यवस्थित पद्धति

होने के कारण पद रचना तथा वाक्य रचना के विभिन्न नियम हैं, जिनका पालन करना अनिवार्य होता है। किन शब्द रूपों में तृतीया एकवचन में न् का ण् होगा, किन में नहीं, किन शब्दों में तृतीया एकवचन में आ लगेगा, कहां ना लगेगा, इन लगेगा– इस व्यवस्था का ही फल है कि किसी भी भाषा का भाषावैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन और विश्लेषण किया जाता है और विभिन्न नियम बनाए जाते हैं।

2. **भाषा संकेतात्मक है–** प्रत्येक भाषा में जो ध्वनियां उच्चरित होती हैं, उनका किसी वस्तु या क्रिया या कार्य से संबंध होता है। ये ध्वनियां प्रतीकात्मक होती हैं। कोई ध्वनि किसी भाषा में किसी एक वस्तु का बोध कराती है और वही ध्वनि दूसरी भाषा में दूसरे अर्थ को बताती है। वस्तुतः भाषा की ध्वनियां केवल संकेतात्मक या प्रतीकात्मक होती हैं।

3. **भाषा वाचिक ध्वनि-संकेत है–** मनुष्य अपनी वागेंद्रियों की सहायता से जिन संकेतों का उच्चारण करता है, वे ही भाषा के अंतर्गत आते हैं। अन्य प्रकार के संकेत–इंगित आदि, लाल-पीली झंडियां आदि, तार और वायरलेस के विभिन्न संकेत भाषा के अंतर्गत नहीं आते हैं। वाचिक ध्वनि संकेत सूक्ष्मातिसूक्ष्म मूर्त-अमूर्त, दृश्य-अदृश्य, निर्वचनीय और अनिर्वचनीय सभी प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति में पूर्णतया समर्थ हैं। इन ध्वनियों की एक विशिष्ट प्रक्रिया है, जिसका सूक्ष्म विश्लेषण संभव है और इसके आधार पर ही 'ध्वनि-विज्ञान' नाम की एक शाखा प्रचलित है।

   लिपि या लेखन पद्धति भी यद्यपि भाषा का कार्य करती है, परंतु यह मूल ध्वनियों का केवल संकेतात्मक चित्रण है। अतः लिपि को गौण रूप से भाषा कहा जाता है। इसी आधार पर उच्चरित ध्वनियों को लिपिबद्ध किया जाता है और लिपिबद्ध ध्वनियों का तात्विक रूप से उच्चारण करना संभव होता है। यहां पर यह तथ्य भी ध्यातव्य है कि वागेंद्रियों से उत्पन्न सभी ध्वनियां सार्थक नहीं होतीं; जैसे- छींकना, खांसना, थूकना, चिल्लाना आदि। इनका भाषाशास्त्र की दृष्टि से कोई महत्व नहीं है और न ही इनका विवेचन किया जाता है।

4. **भाषा यादृच्छिक संकेत है–** भाषा में जिन ध्वनि-संकेतों का उपयोग किया जाता है, वे पूर्णतया यादृच्छिक हैं। प्रत्येक भाषा में किसी विशेष ध्वनि को किसी विशेष अर्थ का वाचक मान लिया जाता है और वह परंपरा के अनुसार उसी अर्थ का वाचक हो जाता है। दूसरी भाषा में अन्य शब्द उस अर्थ का बोध कराता है।

यदि हम बालक की भाषा शिक्षण पद्धति को ध्यान में रखकर विचार करते हैं, तो ज्ञात होता है कि बालक अपने माता-पिता तथा संबंधियों के द्वारा उच्चारित ध्वनि संकेतों का अनुकरण करता है। वे जिसे माता-पिता, भाई-बहन, बिल्ली, मेज़, कुर्सी, शेर आदि कहते हैं, वह भी उन्हें उसी प्रकार उन्हीं नामों से पुकारता है। बिल्ली को बिल्ली तथा शेर को शेर क्यों कहते हैं, इसका विश्लेषण नहीं करता।

इस प्रकार एक समाज में कुछ विशिष्ट शब्द प्रचलित होते हैं और वह समाज उन विशेष अर्थों को ग्रहण करता है। दूसरे समाज में उत्पन्न व्यक्ति उन्हीं अर्थों को व्यक्त करने

हेतु पूर्णतया भिन्न शब्दों का प्रयोग करता है। जैसे अंग्रेज परिवार में पला हुआ बालक उपर्युक्त अर्थों को व्यक्त करने के लिए बचपन से ही मदर, फादर, ब्रदर, सिस्टर, कैट आदि शब्दों का प्रयोग करता है। इसी प्रकार जर्मन, फ्रेंच, रूसी, चीनी आदि भाषाओं में इन अर्थों के लिए अलग-अलग शब्द हैं।

यदि किसी विशेष अर्थ के लिए किसी विशेष ध्वनि का ही नियंत्रण होता तो वह परिवर्तन संभव न होता। इससे स्पष्ट है कि भाषा में प्रयुक्त सभी संकेत यादृच्छिक हैं। जिस भाषा में जिस अर्थ के लिए जो संकेत स्वीकृत है, वही अर्थ उस भाषा में लिया जाता है। किंतु यह संकेत पूर्णतया यादृच्छिक नहीं है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति अपनी इच्छानुसार नए ध्वनि संकेत का किसी विशेष अर्थ में प्रयोग तब तक नहीं कर सकता, जब तक उसको सामाजिक स्वीकृति प्राप्त न हो जाए।

इस विवेचन से ज्ञात होता है कि भाषा एक व्यवस्थित पद्धति है। इसमें संकेतों के आधार पर भावों की अभिव्यक्ति की जाती है। ये संकेत वागेंद्रियों द्वारा ही उत्पन्न होने चाहिए और इन संकेतों का आधार यदृच्छा या मानवीय कल्पना हो।

भाषा अपनी प्रकृति में अत्यंत जटिल और बहुस्तरीय होने के साथ-साथ अपने प्रयोजन में भी बहुमुखी है। यह व्यक्ति के निजी अनुभवों एवं विचारों को व्यक्त करने का माध्यम है, साथ ही सामाजिक संबंधों की अभिव्यक्ति का उपकरण भी है। यह एक ओर मनुष्य के मानसिक व्यापार का आधार है तो दूसरी ओर हमारे सामाजिक व्यापार (संप्रेषण प्रक्रिया) का एक साधन भी। इसी आधार पर भाषा के दो पक्ष माने गए हैं–(1) मानसिक (2) भौतिक। मानसिक पक्ष उसका अमूर्त रूप है और भौतिक मूर्त। वक्ता के मन में भाव और विचार अमूर्त रूप से विद्यमान रहते हैं, जब वह उन्हें प्रकट करना चाहता है तब उसे वागेन्द्रियों से सहायता लेनी पड़ती है और भाषा मूर्त रूप ग्रहण कर लेती है। श्रोता के मन में भी वह अमूर्त रूप में विद्यमान रहती है। इसलिए जब वक्ता द्वारा उच्चरित भाषा श्रवणेंद्रिय के माध्यम से श्रोता तक पहुंचती है, तो वह वक्ता के कथन का अभिप्राय तुरंत समझ लेता है।

इस प्रक्रिया में वक्ता और श्रोता के बीच सामंजस्य होना जरूरी होता है, अन्यथा संप्रेषण बाधित होता है। कई बार वक्ता और श्रोता के बीच बौद्धिक स्तर की भिन्नता के कारण भी अर्थ संप्रेषण संभव नहीं हो पाता। भाषिक संप्रेषण की दृष्टि से भाषा के तीन पक्ष माने गए हैं–1. उच्चारण पक्ष 2. संवहन पक्ष 3. ग्रहण पक्ष।

4.2.3 भाषा के विविध रूप एवं प्रकार

भाषा के विभिन्न रूप हैं; जैसे–(1) सामान्य भाषा (2) बोली, (3) विभाषा, (4) टकसाली भाषा, आदर्श या परिनिष्ठित भाषा, (5) राष्ट्रभाषा, (6) राजभाषा, (7) साहित्यिक भाषा, (8) विशिष्ट भाषा, (9) कृत्रिम भाषा आदि।

1. सामान्य भाषा (Simple language)– मनुष्य के विचारों के आदान-प्रदान का साधन भाषा होती है। सामान्य भाषा के अंतर्गत किसी भी देश अथवा प्रांत की भाषा आती है, जैसे अंग्रेजी, चीनी, फ्रेंच, हिंदी, तमिल आदि। किसी क्षेत्र या देश के नाम पर उस स्थान की भाषा का नामकरण कर दिया जाता है।

2. **बोली** (Patois)– बोली को उपभाषा भी कहा जाता है। इसे भाषा का संकुचित अथवा लघुतम रूप भी कहा जा सकता है। भाषा का बोलचाल में व्यवहृत होने वाला स्थानीय रूप बोली कहलाता है। प्रत्येक मनुष्य अपने संस्कारों, सामाजिक प्रभावों तथा शिक्षा के अनुरूप प्रचलित भाषा को वैयक्तिक विशेषता देकर बोलता है। हर व्यक्ति की बोली में कुछ न कुछ अंतर आ जाता है। बोली को 'व्यक्ति बोली' अंग्रेजी में (Idiolact) कहते हैं। बोली की परिभाषा भाषा विज्ञान कोश (Dictionary of Linguistics) में इस प्रकार की गई है – 'किसी समाज की सामान्य भाषा को बोलते समय व्यक्ति द्वारा उससे पैदा की गई वैयक्तिक विशेषता को व्यक्ति बोली कहते हैं।' प्राय: बोली शब्द का प्रयोग फ्रेंच भाषा के पेत्वच (Patois) शब्द के अर्थ में किया जाता है, जिसकी परिभाषा 'भाषा विज्ञान कोश' में इन शब्दों में की गई है–"किसी स्थान विशेष के निम्नवर्गीय अशिक्षित लोगों की बोलचाल की भाषा को बोली कहते हैं।" डॉ. श्यामसुंदर दास ने 'भाषा विज्ञान' नामक पुस्तक में बोली की परिभाषा इस प्रकार बताई है–"बोली से हमारा अभिप्राय उस स्थानीय और घरेलू बोली से है जो तनिक भी साहित्यिक नहीं होती और बोलने वालों के मुख में ही रहती है।" बोली की परिभाषा करते हुए 'भाषा विज्ञान' में डॉ. भोलानाथ तिवारी ने लिखा है, "बोली किसी भाषा के एक ऐसे सीमित क्षेत्रीय रूप को कहते हैं जो ध्वनि, रूप, वाक्य-गठन, अर्थ, शब्द-समूह तथा मुहावरे आदि की दृष्टि से उस भाषा के परिनिष्ठित तथा अन्य क्षेत्रीय रूपों से भिन्न होता है, किंतु इतना भिन्न नहीं कि अन्य रूपों के बोलने वाले उसे समझ न सकें, साथ ही जिसके अपने क्षेत्र में कहीं भी बोलने वालों के उच्चारण, रूप, रचना, वाक्यगठन, अर्थ, शब्दसमूह तथा मुहावरों आदि में कोई बहुत स्पष्ट और महत्वपूर्ण भिन्नता नहीं होती।" जब बोली साहित्यिक रूप धारण कर लेती है या पड़ोसी बोलियों से अधिक भिन्न हो जाती है, तो भाषा का रूप धारण करने लगती है। एक भाषा के क्षेत्र में अनेक बोलियां पाई जाती हैं; जैसे हिंदी के क्षेत्र में ब्रज, अवधी, खड़ी बोली, बुंदेलखंडी आदि बोलियां हैं। एक बोली में कई उपबोलियां पाई जाती हैं, जैसे बुंदेली की पांवारी, राठौरी, लोधांती। इसी प्रकार अवधी बोली के अंतर्गत लखीमपुरी, सीतापुरी, लखनवी, उन्नवी एवं रायबरेली आदि उपबोलियां हैं।

'बोली' को कुछ विद्वान उपभाषा (Sub-dialect) से संबोधित करते हैं। हिंदी के कुछ भाषा विज्ञानी बोली के स्थान पर 'विभाषा', 'उपभाषा' या 'प्रांतीय भाषा' आदि शब्दों का भी प्रयोग करते हैं।

3. **विभाषा** (Dialect)– विभाषा का क्षेत्र बोली की अपेक्षा अधिक व्यापक होता है। विभाषा का रूप परिमार्जित, शिष्ट एवं साहित्य संपन्न होता है। एक विभाषा में कई बोलियां होती हैं। विभाषा का स्वतंत्र अस्तित्व होता है। ब्रजभाषा, अवधी, खड़ी बोली, भोजपुरी, गढ़वाली आदि विभाषाओं के अंतर्गत कई बोलियां पाई जाती हैं। डॉ. श्यामसुंदर दास के अनुसार विभाषा की परिभाषा इस प्रकार है–"प्रांत तथा उपप्रांत की बोलचाल तथा साहित्यिक रचना की भाषा विभाषा कहलाती है।" ऋषि गोपाल ने विभाषा की परिभाषा इस प्रकार दी है–"विभाषा भाषा का वह स्वरूप है, जो विशेष

प्रदेश में बोला जाता है और उच्चारण, व्याकरणिक रूप और शब्द प्रयोगों की दृष्टि से अन्य विभाषाओं से भिन्न होता है, परंतु इतना भिन्न नहीं कि उसे एक भाषा के क्षेत्र के अंतर्गत न रखा जा सके।" बोलियां धीरे-धीरे विकसित होकर विभाषा अथवा साहित्यिक भाषा बन जाती हैं। बोलियां निम्न कारणों में महत्वपूर्ण होकर साहित्यिक भाषा बन जाती हैं–

(क) जब कई बोलियों में से कोई बोली अन्य बोलियों के लुप्त होने के कारण शेष रह जाती है, तो उसका महत्व अधिक हो जाता है और उसे भाषा का नाम दे दिया जाता है। मुंडा वर्ग की 'ब्राह्मी' इसी प्रकार की भाषा है।

(ख) उत्तम साहित्य-सृजन होने से कुछ बोलियां अधिक प्रचलित हो जाती हैं तथा लोकप्रियता के कारण भाषा बन जाती हैं। ब्रजभाषा इसी प्रकार की बोली है।

(ग) कुछ बोलियां राजाओं के दरबारों में आश्रय पाकर विकसित हुईं। खड़ी बोली का क्षेत्र राजनीतिक केंद्र रहा। दिल्ली के समीप स्थित होने से यह अन्य बोलियों को पीछे छोड़ती हुई राष्ट्रभाषा बन गई तथा हिंदी क्षेत्रों की प्रमुख संपर्क भाषा के रूप में विकसित हो गई।

(घ) धार्मिक विशेषता के कारण भी कुछ बोलियां महत्वपूर्ण हो गईं। कृष्ण संबंधी साहित्य का प्रणयन विशेषकर सूरदास की रचनाएं ब्रज में होने से ब्रजभाषा की महत्ता बढ़ गई। इसी प्रकार अयोध्या का संबंध भगवान श्रीराम से होने तथा 'रामचरित' की रचना अवधी में होने से अवधी का भी महत्व अधिक हो गया। खड़ी बोली के प्रचार में ईसाई मिशनरियों तथा आर्यसमाज का महत्वपूर्ण योगदान रहा।

(ङ) बोलने वालों के महत्व के कारण भी कोई बोली विशेष महत्वपूर्ण हो जाती है। अंग्रेजी का क्रमशः विकास होकर अंतर्राष्ट्रीय भाषा बनना कुछ इसी प्रकार है।

जिन कारणों से कोई बोली विभाषा के रूप में परिवर्तित हो जाती है, उनके न होने पर पुनः उसका महत्व कम हो जाता है। ब्रजभाषा हिंदी क्षेत्र के बड़े भाग में, यहां तक कि गुजरात तथा बंगाल तक में, व्यहृत होकर ही रह गई। कभी-कभी पड़ोसी प्रभावशाली बोलियों के प्रभाव से अन्य बोलियां अप्रचलित होकर नष्ट या मृत हो जाती हैं। आयरलैंड की गोलिक भाषा अंग्रेजी के कारण मृत हो गई। लैटिन के कारण रोम के समीप की अन्य भाषाएं नष्ट हो गईं। विकेंद्रित होने पर विभाषा स्थानीय प्रभावों के कारण पुनः अनेक बोलियों में बदल जाती है।

4. टकसाली भाषा, आदर्श या परिनिष्ठित भाषा (Standard Language)– जब एक भाषा क्षेत्र की कोई एक बोली आदर्श मान ली जाती है तथा उसका उपयोग संपूर्ण क्षेत्र के कार्यों, शिक्षित वर्ग के लोगों की शिक्षा, पत्र-व्यवहार, समाचार पत्रों तथा शिष्ट लोगों की पारस्परिक बातचीत के लिए किया जाता है, तो उसे टकसाली या परिनिष्ठित भाषा कहते हैं। टकसाली या आदर्श भाषा का प्रभाव समीप की अन्य बोलियों पर पड़ता है, हिंदी क्षेत्र में खड़ी बोली को भाषा का पद मिलने के बाद उसका प्रभाव हिंदी क्षेत्र की अन्य बोलियों जैसे अवधी, ब्रज, बुंदेली, कन्नौजी, भोजपुरी आदि पर पड़ा है।

आदर्श भाषा पर समीप की अन्य बोलियों का भी प्रभाव उच्चारण, शब्द भंडार तथा व्याकरण आदि पर दिखाई देता है। आदर्श भाषा के लिखित तथा मौखिक रूप पाए जाते हैं। संस्कृत तथा लैटिन भाषा के लिखित रूप हैं। इनके बोलने वाले अत्यल्प हैं। ये पुस्तकों तक ही सीमित हैं। मौखिक रूप में किसी क्षेत्र की बोलचाल की भाषा आती है। खड़ी बोली का मौखिक रूप हिंदी, मेरठ के समीप के क्षेत्रों में ग्रामीण बोलियों में मिलता है। मौखिक भाषा के वाक्य छोटे-छोटे तथा भाषा के सही रूप को प्रदर्शित करने वाले होते हैं।

खड़ी बोली हिंदी का आदर्श रूप पत्र-पत्रिकाओं तथा साहित्यिक रचनाओं में पाया जाता है। भाषा का मौखिक रूप जनसाधारण द्वारा प्रयुक्त किया जाता है तथा यह रूप परिवर्तनशील होता है, जबकि साहित्यिक रचनाओं में प्रयुक्त लिखित रूप साहित्य के प्रभाव से अधिक समय तक सुरक्षित रहता है। भाषा का लिखित रूप अधिक शुद्ध होता है।

आदर्श या टकसाली भाषा की परिभाषा डॉ. श्यामसुंदर दास ने इस प्रकार की है–'कई विभाषाओं में व्यवहृत होने वाली एक शिष्ट परिगृहीत विभाषा ही भाषा (या टकसाली भाषा) कहलाती है।'

'भाषा विज्ञान कोश' में टकसाली या आदर्श भाषा की परिभाषा इन शब्दों में की गई है–'टकसाली भाषा किसी भाषा की उस विभाषा को कहते हैं, जो अपनी साहित्यिक और सांस्कृतिक श्रेष्ठता अन्य विभाषाओं पर स्थापित करके उन विभाषाओं के बोलने वालों द्वारा उस भाषा के सर्वाधिक उपयुक्त समझी जाए।'

5. **राष्ट्रभाषा** (National Language)– जब आदर्श भाषा का प्रयोग संपूर्ण देश के शासन संबंधी कार्यों में तथा अन्य भाषाओं के अधिकार क्षेत्र में होने लगता है, तो उसे राष्ट्रभाषा कहते हैं। राष्ट्र की भाषा होने से इसका क्षेत्र भाषा की अपेक्षा व्यापक हो जाता है। राष्ट्र की जो भी भाषा अपनी व्यापकता, अधिक जनसंख्या, राजनैतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक कारणों से राष्ट्र के सार्वजनिक कार्यों में प्रयोग की जाने लगती है तथा देश की संस्कृति एवं सभ्यता की द्योतक होती है। हिंदी की दशा भारत में इसी प्रकार की है। देश में अन्य अनेक भाषाएं गुजराती, मराठी, बंगाली तमिल, तेलुगू, कन्नड़, मलयालम आदि बोली जाती हैं किंतु राष्ट्रभाषा के पद पर हिंदी ही अधिकार रखती है।

हिंदी का व्यवहार हिंदी क्षेत्रों के अतिरिक्त अन्य भाषा क्षेत्रों में भी प्रशासनिक कार्यों में बढ़ रहा है। राष्ट्रभाषा राष्ट्र को एकता के सूत्र में बांधने वाली होती है। प्रत्येक राष्ट्र की एक राष्ट्रभाषा होना आवश्यक है। डॉ. भोलानाथ तिवारी ने राष्ट्रभाषा की परिभाषा इस प्रकार की है–"जब कोई बोली आदर्श भाषा बनने के बाद भी बढ़ती है और अन्य भाषा क्षेत्र तथा अन्य परिवार क्षेत्र में भी उसका प्रयोग सार्वजनिक कामों में होने लगता है, तो वह राष्ट्रभाषा का पद पा जाती है।" फ्रांस में भी भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में पृथक्-पृथक् बोलियां बोली जाती हैं। दक्षिणी फ्रांस में प्रोवांशाल, कार्सिका प्रांत में इटैलियन, उत्तरी फ्रांस में फ्रेंच तथा बास्क बोली जाती है, परंतु उत्तरी फ्रांस में बोली जाने वाली फ्रेंच भाषा फ्रांस की राष्ट्रभाषा है। इस प्रकार राष्ट्रभाषा की आवश्यकता का महत्वपूर्ण स्थान होता है।

6. **राजभाषा** (Official Language)– राष्ट्रभाषा और राजभाषा के एक होने का भ्रम होता है। लोग इन शब्दों को पर्याय समझते हैं, परंतु इनमें भिन्नता भी हो सकती है। साधारणत: किसी राष्ट्र में राष्ट्रभाषा प्रशासनिक कार्यों में प्रचलित होकर स्वयमेव राजभाषा की अधिकारिणी हो जाती है। जब कोई विदेशी शक्ति किसी राष्ट्र पर विजय प्राप्त कर लेती है, तो विजयी लोग अपनी भाषा को राजभाषा पद पर आसीन कर देते हैं। विजित लोग धीरे-धीरे राजभाषा के प्रति झुकते जाते हैं तथा राजभाषा कालांतर में राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन हो जाती है। मुगलों के समय फारसी तथा अंग्रेजी शासनकाल में अंग्रेजी राजभाषा के पद पर थी।

स्वतंत्रता के बाद राष्ट्रभाषा हिंदी को राजभाषा बनाया गया है किंतु अंग्रेजी भी राजभाषा का कार्य कर रही है। उर्दू को ही लिया जाए तो हम देखते हैं कि पाकिस्तान के चारों प्रांतों में किसी भी प्रांत में उर्दू न बोली है न भाषा, किंतु वह पाकिस्तान की राजभाषा है। कभी-कभी जब कोई भाषा राष्ट्र की सीमाओं के बाहर व्यापार, शासन आदि कार्यों में प्रयोग की जाती है, तो उसे अंतर्राष्ट्रीय भाषा के नाम से जाना जाता है। अंतर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में फ्रेंच का व्यवहार होता था किंतु बाद में उसका स्थान अंग्रेजी ने ले लिया।

7. **साहित्यिक भाषा** (Literary Language)– टकसाली या आदर्श का ही साहित्य में प्रयुक्त विशेष रूप साहित्यिक भाषा कहलाता है। टकसाली या आदर्श भाषा जनसाधारण की बोली जाने वाली भाषा होती है, जबकि साहित्यिक भाषा परिष्कार तथा विशेष शब्द प्रयोग के कारण अन्य बोलियों से दूर होती है। साहित्यकार जनसाधारण में व्यवहृत टकसाली भाषा को सुधार कर, परिमार्जन करके, विशेषता उत्पन्न करके उसे साहित्यिक भाषा का रूप देता है। जनसाधारण की भाषा होने के कारण टकसाली भाषा स्वत: ही नदी के प्रवाह की भांति बढ़ती जाती है। साहित्यिक भाषा में कृत्रिमता का समावेश हो जाता है, जबकि जनभाषा स्वाभाविक रूप को प्रकट करती है।

जनभाषा में नये-नये शब्दों का समावेश होने तथा उस पर अन्य भाषाओं, बोलियों का प्रभाव पड़ने से परिवर्तन एवं अस्थिरता की प्रधानता रहती है जबकि साहित्यिक भाषा साहित्य में प्रयोग किए जाने के कारण कुछ काल के लिए स्थिर रूप बना लेती है। साहित्य में प्रयुक्त होने से ही वैदिक संस्कृत का प्राचीन रूप अभी भी स्थिर है जबकि जनभाषा का उस काल का रूप आज बहुत ही बदल गया है। आम बातचीत में हिंदी का टकसाली रूप भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में बहुत कुछ साम्य रखता है।

धीरे-धीरे जब साहित्यिक भाषा जनसाधारण के लिए दुर्बोध हो जाती है, तो टकसाली भाषा में साहित्य सृजन प्रारंभ हो जाता है और बाद में यह भी साहित्यिक भाषा का पद पा लेती है। इसी प्रकार क्रम चलता रहता है। भाषा विज्ञान कोश में साहित्यिक भाषा की परिभाषा इन शब्दों में दी गई है–"किसी भाषा की वह विभाषा जो सर्वश्रेष्ठ समझ कर साहित्य रचना के लिए प्रयोग की जाए तथा बोलचाल की भाषा की अपेक्षा कुछ विशिष्ट हो।"

डॉ. मंगलदेव शास्त्री साहित्यिक भाषा उसे स्वीकार करते हैं, जिसमें साहित्य सृजन हुआ हो तथा जिसका प्रयोग विशेषतया शिक्षित समूह या शिष्ट वर्ग करता हो।"

8. **विशिष्ट भाषा** (Special Language)– प्राय: दैनिक व्यवहार में देखा जाता है कि कुछ वर्ग अपने कामों में विशिष्ट भाषा का प्रयोग करते हैं। व्यापारियों, छात्रों, सर्राफों, कहारों, साहित्यिक संस्थाओं आदि की भाषाएं आपस में कुछ भिन्न होती हैं तथा उनमें कुछ विशिष्टताएं पाई जाती हैं। इस प्रकार की भाषा विशिष्ट भाषा कहलाती है।

9. **कृत्रिम भाषा** (Artificial Language)– यद्यपि भाषा का विकास अपनी स्वाभाविक गति से होता है, परंतु कभी-कभी जाति, समाज एवं देश के हित में भाषा की रचना की जाती है, निश्चित शब्द के संकेतों से बातचीत की जाती है। इस प्रकार की भाषा को कृत्रिम भाषा कहते हैं। इस प्रकार की कृत्रिम भाषा एसपिरेंतो (Esperanto) है जिसकी रचना डॉ. एल.एल. जमेनहाफ ने की थी। इस भाषा का उदाहरण इस प्रकार देखा जा सकता है-कैट (Kat) = बिल्ली। इन (in) = स्त्रीलिंग का चिह्न, इड id = बच्चों का चिह्न, एट (et), छोटे का चिह्न, ओ (O) = संज्ञा का चिह्न। एक बिल्ली (स्त्रीलिंग) = कैट इन ओ (kat=in-o)। एक बिल्ली का बच्चा = (kat-kid-o) कैट-किड-ओ। एक छोटी बिल्ली (स्त्री.) का बच्चा= कैट-इन-एट-इड-ओ (kat=in=et=id=o)। यह भाषा रोमन लिपि में लिखी जाती है तथा एक सप्ताह में सीखी जा सकती है। इसकी सुधार की गई एक शाखा (Ido) के नाम से जानी जाती है। इसमें सोलह नियम हैं, अत्यंत सरल हैं तथा थोड़े समय में सीखे जा सकते हैं। चोर, डाकू, बच्चे अपने संकेत शब्दों का आश्रय लेकर बातचीत कर लेते हैं। कृत्रिम भाषा को दो भागों में बांटा गया है–(1) गुप्त भाषा और (2) सामान्य भाषा।

(1) **गुप्त भाषा**- इस भाषा का प्रयोग सेनाएं, जासूसी विभाग, और डाकू, लड़ाके आदि करते हैं। भाषा के रूप को बिगाड़कर, शब्दों में हेर फेर करके, नये शब्द मिलाकर कृत्रिम भाषा बनाई जाती है। परसाद दो = पिटाई करो या जहर दो। अमर करो = मार डालो। हर्फम जर्फाति अर्फही = हम जात अहीं = हम जात ही (इलाहाबादी), आदि गुप्त भाषा के कुछ उदाहरण हैं।

(2) **सामान्य भाषा–** सामान्य कृत्रिम भाषा चलती हुई भाषा के आधार पर बनाई जाती है जिससे लोग शीघ्र समझ सकें। विश्व में इस प्रकार की भाषाएं एसपिरेंतो इडो, नोवियल, इंटरलिंगुवा, ऑक्सिडेंटल आदि हैं। भाषा के इन रूपों के अलावा अन्य रूप भी हैं, जिनमें जाति भाषा (विभिन्न जातियों की बोली), स्त्री भाषा (पुरुषों से भिन्न बोली का प्रयोग), पुरुष भाषा, ग्राम्य भाषा, शिष्ट, अशिष्ट, विकृत, मिश्रित भाषाएं आदि हैं।

भाषा के प्रकार

आज का युग वैज्ञानिक युग है। अत: भाषा के अध्ययन के लिए तदनुरूप तुलनात्मक वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपेक्षित है, क्योंकि आज प्रत्येक विषय के अध्ययन में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का

सर्वाधिक महत्व है। अतः भाषा का क्षेत्र भी इससे अछूता नहीं है। इस अध्ययन की सुविधा के लिए विश्व की भाषाओं का आकृति-प्रकृति के आधार पर वर्गीकरण किया गया है। संपूर्ण विश्व में कुल कितनी भाषाएं बोली जाती हैं, उनकी संख्या के विषय में कुछ भी अनुमान करना अक्षरशः सत्य नहीं कहा जा सकता, परंतु सभी विद्वान इस तथ्य का समर्थन करते हैं कि विश्व में कुल लगभग 3000 भाषाएं बोली जाती हैं। भाषाविद् मेरियो पाई ने तो इन्हें ठीक-ठीक नपे-तुले शब्दों में 2796 बताने का कष्टसाध्य प्रयास किया है। हमें यह कहने में जरा भी संकोच अनुभव नहीं हो रहा है कि पाई का यह निष्कर्ष एक कल्पना के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, क्योंकि शायद ही कोई 10-20 भाषाओं का ज्ञाता हो। ऐसी स्थिति में 2796 का ज्ञान रखना, अत्यंत सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंतरों के आधार पर एक को दूसरे से पृथक् करना, इतना ही नहीं 3000 के स्थान पर 2796 बताकर मात्र 204 भाषाओं का सूक्ष्म अंतर स्वीकार करना किसी व्यक्ति-विशेष का कार्य नहीं हो सकता। वस्तुतः यदि उपर्युक्त संख्या को आधार मान भी लिया जाए, तो भी अध्ययन की सुविधा के लिए भाषा के प्रकारों की अर्थात वर्गीकरण की आवश्यकता स्वाभाविक है, क्योंकि भेदों से किसी वस्तु विशेष के अध्ययन में सौकार्य आ जाता है।

यही वर्गीकरण की व्यावहारिक उपयोगिता है। संसार की भाषाओं के प्रकारों के कई आधार हो सकते हैं; जैसे–महाद्वीप, देश, धर्म, काल, भाषाओं की आकृति, परिवार तथा प्रभाव आदि, किंतु भाषा विज्ञान की दृष्टि से निम्नलिखित दो वर्गीकरण महत्वपूर्ण हैं–आकृतिमूलक वर्गीकरण तथा पारिवारिक वर्गीकरण। वस्तुतः इनमें से अर्थात इन उपर्युक्त आधारों में से आकृति, इतिहास तथा परिवार को आधार बनाकर जो वर्गीकरण किया गया है, वही तर्कसंगत एवं समीचीन है। भाषा विज्ञान में विश्व भाषाओं के दो प्रकार से वर्गीकरण किए गए हैं–

(अ) आकृतिमूलक वर्गीकरण (Morphological Classification)

(ब) पारिवारिक वर्गीकरण (Genealogical Classification)

(अ) आकृतिमूलक वर्गीकरण

आकृतिमूलक वर्गीकरण का आधार है पदों तथा वाक्यों की रचना। पद किस प्रकार बनते हैं और वाक्यों की रचना किस प्रकार होती है, इस आधार पर किए जाने वाले वर्गीकरण को आकृतिमूलक कहते हैं। Morph (मार्फ पद) Morphology (मार्फोलॉजी पद रचना) पर आश्रित होने से इसे Morphological Classification (पद रचनात्मक वर्गीकरण) कहते हैं। इस वर्गीकरण को Syntax (सिंटैक्स) वाक्य रचना के आधार पर होने से syntactical (वाक्य रचनात्मक) और Type (टाइप-रूप) के आधार पर होने से Typical (टिपिकल रूपात्मक) भी कहते हैं। जिन भाषाओं में आकृति (आकार, पद रचना तथा वाक्य रचना) की दृष्टि से समानता होती है, उन्हें एक वर्ग में रखा जाता है।

आकृतिमूलक वर्गीकरण में रचना तत्व की मुख्यता रहती है। इनमें शब्द के बाह्यरूप पर ध्यान दिया जाता है। भाषाओं के आकृतिमूलक वर्गीकरण के परिप्रेक्ष्य में प्रो. श्लेगल (F. Schlegel) को अत्यधिक श्रेय दिया जाता है, क्योंकि इन्होंने ही सर्वप्रथम आकृतिमूलक भाषाओं को दो वर्गों में विभक्त किया, जिसे आगे चलकर प्रो. बोप (F. Bopp), ग्रिम तथा श्लाइशर ने तीन वर्गों में वर्गीकृत करने का प्रयास किया। पॉट (A.F. Pott) ने इसे चार वर्गों

में विभाजित किया, किंतु यथार्थतः प्रमुखता भाषाओं के दो ही वर्गों को प्राप्त हुई– अयोगात्मक एवं योगात्मक।

आकृतिमूलक वर्गीकरण का स्पष्टीकरण

1. अयोगात्मक भाषाएं– अयोगात्मक उन भाषाओं को कहते हैं, जिनमें प्रकृति, प्रत्यय या अर्थतत्व और संबंध-तत्व का संयोग नहीं होता। इस वर्ग की भाषाओं में योग नहीं रहता अर्थात संबंध-तत्वों (उपसर्ग, प्रत्यय) को जोड़कर शब्द नहीं बनाए जाते, अपितु सभी शब्द स्वतंत्र होते हैं, उनका अपना विशेष अस्तित्व और महत्व होता है। यथा–संस्कृत में 'राम' शब्द में 'टा' प्रत्यय जोड़कर 'रामेण' शब्द निष्पन्न होता है, किंतु हिंदी में 'राम से' दोनों शब्द भिन्न-भिन्न हैं, लेकिन यह भी योगात्मक ही है, चलना का भूतकाल में चला हो जाता है, किंतु चीनी भाषा में Tsen (चलना) का भूत अर्थ लेने के लिए इसके आगे (lion) रख देते हैं- lion Tsen।

कहने का तात्पर्य यह है कि इस वर्ग की भाषाओं का प्रत्येक शब्द स्वयमेव प्रकृति तत्व एवं अर्थतत्व को व्यक्त करने की शक्ति रखता है। इन शब्दों का परस्पर संबंध, वाक्य में उनके निश्चित स्थान से व्यक्त होता है अर्थात वाक्य में उनका स्थान बदलने से उनका अर्थ भी परिवर्तित हो जाता है; जैसे–

(क) ता-जेन (बड़ा आदमी, ता = बड़ा, जेन = आदमी)

जेन-ता (आदमी बड़ा है)

(ख) वो-ता-नी (मैं मारता हूं तुझे, वो= मैं, ता= मारना, नी= तू)

नी-ता-वो (तू मारता है मुझे)

वाक्य में उद्देश्य, विधेय आदि का संबंध स्थान और स्वर के द्वारा प्रकट होता है। ऐसी वाक्यरचना में प्रकृति व प्रत्यय का भेद नहीं रहता। परिणाम यह होता है कि वहां रचना, काल और कारक रचना का सर्वथा अभाव रहता है। यथा चीनी भाषा में 'न्तगो त नि' का अर्थ है 'मैं मारता हूं तुझको' तथा इसका विपरीत करने पर "नितन्गो" का अर्थ प्रकट होता है–"तुम मारते हो मुझको"। कभी-कभी शब्दों के अर्थ में निपात भी भेद उत्पन्न करता है। चीनी भाषा में "वांग पाओ मिन" का अर्थ है–राजा लोगों की रक्षा करता है, किंतु "वांग पाओ ची मिन" का अर्थ है– राजा द्वारा रक्षित लोग। ची संबंधवाचक निपात है।

स्वरभेद से भी अर्थपरिवर्तन हो जाता है–"क्वेईक्वोक" में उदात्त स्वर के आने पर इसका अर्थ मान्य या विशिष्ट देश हो जाएगा। इस वर्ग की भाषाओं में स्थान, निपात तथा सुर का विशेष महत्व होता है। इन भाषाओं का व्याकरण इन्हीं का विवेचन करता है। निपात (संबंधसूचक अव्यय) से शब्दरचना और वाक्यरचना में भी सहायता ली जाती है। इसमें संबंध-तत्व का बोध संबंध-तत्व-बोधक शब्दों को लगाकर या स्थान विशेष पर रखकर कराया जाता है। यद्यपि सामान्य रूप से इस वर्ग की सभी भाषाओं में इनका महत्व है, तथापि कुछ भाषाओं में इनमें से किसी एक का महत्व अपेक्षाकृत अधिक रहता है। यथा चीनी भाषा में स्थान तथा सुर का, सूडानी भाषा में स्थान का, अनामी में स्वर का तथा बर्मी, स्यामी व तिब्बती में निपात का सर्वाधिक महत्व है।

2. योगात्मक भाषाएं (Agglutinative Languages)– योगात्मक भाषाओं में प्रकृति तथा प्रत्यय के योग से शब्द की रचना होती है। इन भाषाओं का प्रत्येक शब्द स्वतंत्र होता है। विश्व में सर्वाधिक भाषाएं इसी वर्ग की हैं। इस वर्ग की भाषाओं का निर्माण अर्थतत्व एवं संबंध-तत्व के योग से होता है। प्रत्येक शब्द प्रकृतिरूप न होकर प्रकृति प्रत्यय के संयोग का परिणाम होता है। यथा– संस्कृत भाषा में 'रामेण हतो बालिः' में राम के साथ तृतीया के 'एन्' का तथा हन् के साथ 'तः' प्रत्यय का और 'बालि' के साथ 'अः' प्रत्यय का योग है। इस वर्ग की भाषाओं को अध्ययन की दृष्टि से अश्लिष्ट योगात्मक, प्रश्लिष्ट तथा श्लिष्ट योगात्मक इन तीन वर्गों में विभक्त किया गया है–

(क) अश्लिष्ट योगात्मक भाषाएं– यदि भाषा में अर्थतत्व और संबंध-तत्व का पारस्परिक योग हो, किंतु उसकी स्थिति स्पष्टतः परिलक्षित होती हो, तो ऐसी भाषा अश्लिष्ट योगात्मक कहलाती है। अश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं के वाक्यों में प्रत्ययों की प्रधानता रहती है, जिनकी सत्ता स्पष्टतः दृष्टिगत होती है। ऐसे वाक्यों में एक से अनेक प्रत्यय लगाकर विभिन्न अर्थ निकाले जाते हैं। उदाहरण के लिए, 'जुलु' भाषा में 'तु चिल यवनोकल' के पूर्व प्रत्यय लगाने पर यह वाक्य बनता है–'उमंतु-वेतु ओमुच्चले यवनोकल' अर्थात 'हमारा आदमी देखने में भला है'। इसी वाक्य का बहुवचन है 'अवंतु वेतु अवच्चले वयवनोकल' अर्थात 'हमारे आदमी देखने में भले हैं'। इसी प्रकार 'पर प्रत्यय-प्रधान' तुर्की भाषा में एव = घर, एवलेर = कई घर, एवलेरइम = मेरे घर। अश्लिष्ट योगात्मक (प्रत्यय-प्रधान) भाषा में व्याकरण संबंध पुरः प्रत्यय अंतः प्रत्यय, पर प्रत्यय के संयोग से सूचित किया जाता है। कुछ भाषाएं सर्व प्रत्यय प्रधान और कुछ ईषत् प्रत्यय प्रधान होती हैं। प्रत्यय-प्रधान अश्लिष्ट भाषाओं को विद्वानों ने चार भागों में विभक्त किया है :

1. पुरः प्रत्यय-प्रधान–पूर्व योगात्मक (prefix agglutinative)
2. मध्य प्रत्यय-प्रधान–मध्य योगात्मक (Infix agglutinative)
3. पर प्रत्यय-प्रधान–अंत योगात्मक (Suffix agglutinative)
4. पूर्वांत योगात्मक–आंशिक योगात्मक (Prefix-Suffix agglutinative)

1. **पुरः प्रत्यय-प्रधान - पूर्व योगात्मक**– भाषाओं में 'बान्टू परिवार' की भाषाओं की गणना होती है। पूर्व योगात्मक भाषाओं में संबंध-तत्व आरंभ में लगता है। इस परिवार की भाषाओं को तीन वर्गों में विभक्त किया जाता है–(1) पूर्वी, (2) मध्यवर्ती, (3) पश्चिमी। पूर्वी भाषाओं में काफिर और जुलू मुख्य हैं। काफिर भाषा में 'कु' उपसर्ग का अर्थ होता है–को । ति (हम) नि (उन) आदि सर्वनाम हैं। इसका परस्पर योग होने पर:

   कु-ति = हमको। कु-नि = उनको।

   कु-जे = उसको।

   जुलू भाषा के उदाहरण ऊपर दे चुके हैं। पूर्व प्रत्यय जोड़ने की प्रवृत्ति के दर्शन संस्कृत में भी हो जाते हैं, जैसे–गच्छति = जाता है और अवगच्छति = जानता है।

2. **मध्य प्रत्यय-प्रधान–मध्य योगात्मक**–मध्य योगात्मक भाषाओं में संबंध-तत्व की योजना मध्य में होती है। मलायो परिवार की मुख्य भाषा फिलीपींस की टगलॉग (Tagalog) भाषा मध्य योगात्मक भाषा का ही उदाहरण है; जैसे–

सुलत् = लेख। सुमूलत् = (स+उम्+ऊलत्) लिखने वाला।

सिनूलत = (स+इन+ऊलत्) लिखा गया।

इस उदाहरण में 'उम्' और 'इन' मध्य प्रत्ययों का प्रयोग हुआ है। भारत की मुंडा परिवार की भाषाओं में भी मध्य प्रत्ययों का प्रयोग किया गया है; जैसे–संथाली भाषा में 'मंझि' का अर्थ है मुखिया और 'मपंझि' का अर्थ है मुखियागण। इसी प्रकार स्पष्ट है कि 'प' मध्य प्रत्यय का प्रयोग बहुवचन में होता है। इस प्रकार तुर्की भाषा का एक उदाहरण भी उल्लेखनीय है– 'सेव्मेक' का अर्थ है 'प्यार करना' 'सेव् इन मेक' का अर्थ हुआ, 'अपने को प्यार करता है' और 'सेव् इल मेक' का अर्थ हुआ 'प्यार किया जाना'। यहां भी 'इन्' और 'इल' प्रत्ययों का प्रयोग मध्य में हुआ। इसी प्रकार 'दल्' का अर्थ है 'मारना' और 'दपल्' का अर्थ है 'परस्पर मारना'। इस क्रिया में 'प' प्रत्यय का प्रयोग मध्य में हुआ है।

कुछ भाषाएं ईषत् प्रत्यय-प्रधान भी होती हैं, इनमें प्रत्यय के साथ कारक, समास और विभक्ति की भी योजना होती है।

3. **पर प्रत्यय-प्रधान–अंत योगात्मक**–अंत योगात्मक भाषाओं में प्रत्यय अंत में संयुक्त होता है। यूराल, अल्टाइक तथा द्रविड़ परिवार की भाषाओं में अंत योग के उदाहरण मिलते हैं। तुर्की भाषा अंत योगात्मकता के लिए प्रसिद्ध है :

'यव' का अर्थ है 'घर'

'एवलेर' का अर्थ हुआ 'कई घर'।

'एवलेर इम' का अर्थ हुआ 'मेरे घर'।

'यज' का अर्थ है 'लिख'।

'यज्मक्' का अर्थ है 'लिखना'।

यजिस्मक् (यज्+इस्+मक) = परस्पर लिखना।

यज्दिर्मक् (यज+दिर्+मक) = लिखवाना।

यजिल्मक (यज+इल्+मक) = लिखाया जाता।

भारतीय दक्षिणी भाषाओं कन्नड़, मलयालम आदि में भी अंत योगात्मकता दृष्टिगत होती है।

कन्नड़ भाषा–सेवक शब्द से सेवकरु (कर्ता), सेवक-रन्नु (कर्म), सेवक-रिन्द (करण), सेवक-रिगे (संप्रदान), सेवक-र (संबंध), सेवक-रल्लि (अधिकरण) आदि रूप बनते हैं।

इसी प्रकार मलयालम भाषा में बहुवचन के रूप इस प्रकार बनते हैं– सेवकन्-मार (कर्ता), सेवकन्-मारे (कर्म), सेवकन्-मारल् (करण), सेवकनमारक्कु (संप्रदान), सेवकन्-मारुटे (संबंध), सेवकन्-मार-इल (अधिकरण)। आशय यह है कि कन्नड़-मलयालम में प्रत्यय अंत में संयुक्त होते हैं। इन भाषाओं को पर-प्रत्यय-प्रधान या 'अंत-योगात्मक' कहा जाता है।

4. **सर्व प्रत्यय-प्रधान या पूर्वांत-योगात्मक**– 'सर्व-प्रत्यय-प्रधान' भाषाओं के अर्थतत्व के पूर्व तथा पश्चात दोनों ओर प्रत्यय जोड़े जाते हैं। सर्व-प्रत्यय-प्रधान भाषाओं में प्रशांत महासागर चक्र की 'पपुआई परिवार' की भाषाएं आती हैं। न्यूगिनी द्वीप की 'मफोर' भाषा में प्रकृति और प्रत्यय का संयोग शब्द में इस प्रकार होता है :

म्नफ़	= सुनना।
जम्नफ़	= मैं सुनता हूं।
जम्नफ़उ	= मैं तेरी बात सुनता हूं।

यहां 'ज' आदि में और 'उ' प्रत्यय अंत में संयुक्त हुए हैं। इसी प्रकार:

म्नफ़	= सुनना।
वम्नफ़	= तू सुनता है।
इम्नफ़	= वह सुनता है।
सिम्नफ़	= वे सुनते हैं।
सिम्नइफ़	= उसकी बात सुनते हैं।

(ख) **प्रश्लिष्ट योगात्मक** (Incorporative) **समास-प्रधान**– प्रश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं में प्रकृति-प्रत्यय इस प्रकार संश्लिष्ट होते हैं कि उन्हें अलग करना असंभव-सा लगता है। प्रश्लिष्ट-योगात्मक-भाषाओं की एक विशेषता यह भी है कि इस भाषा के वाक्यों में अनेक शब्द न आकर शब्दखंड संयुक्त होते हैं। परिणामस्वरूप, एक दीर्घ वाक्य बन जाता है। ग्रीनलैंड तथा दक्षिणी अमरीका की भाषाएं इसी प्रकार की हैं। संस्कृत भाषा यद्यपि प्रधानत: श्लिष्ट-योगात्मक है, किंतु उसमें प्रश्लिष्ट-योगात्मकता के लक्षण दृष्टिगत होते हैं; जैसे–

तैरभिप्रेतार्थसाधनेऽभिनवकौशलप्रदर्शनंकृतमासीत्, अर्थात 'उन्होंने अपना अभिप्राय सिद्ध करने में नूतन कुशलता दिखाई'। यद्यपि अंग्रेजी भी समास-प्रधान भाषा नहीं है, तथापि यत्र-तत्र इस प्रकृति के दर्शन किए जा सकते हैं–United Nations Economical, Social and Cultural Organization इन सभी शब्दों के प्रथमाक्षरों के संयोग से यूनेस्को (UNESCO) शब्द बनता है।

प्रश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं के संबंध-तत्व और अर्थतत्व की दृष्टि से दो विभाग हो सकते हैं– (1) पूर्ण प्रश्लिष्ट (2) आंशिक प्रश्लिष्ट

1. **पूर्ण प्रश्लिष्ट**–पूर्ण प्रश्लिष्ट भाषाएं अपेक्षाकृत अधिक जटिल होती हैं। अपनी प्रकृति के कारण इस भाषा के शब्दखंडों से पूरा वाक्य एक लंबा-सा शब्द बन जाता है। दक्षिणी अमरीका की चैरोकी भाषा का एक उदाहरण–

नातेन = लाओ। आमोखल = नाव। निन = हम।

इन तीनों शब्दों के संयोग से 'नाओलिनिन' शब्द का अर्थ है–'हमारे पास नाव लाओ।'

ग्रीनलैंड की एस्किमो भाषा में भी पूर्ण प्रश्लिष्टावस्था के दर्शन होते हैं–

अउलिसर = मछली मारना।

पेअर्तोर = किसी काम में लगना।

पिन्नेसुअर्पोक = वह जल्दी करता है।

इन तीनों से मिलकर–'अउलिसरिअर्तोरसुर्पोक' (वह मछली मारने के लिए जाने की जल्दी करता है) एक शब्द से निर्मित वाक्य बन जाता है।

2. **आंशिक प्रश्लिष्ट**–आंशिक प्रश्लिष्ट भाषाओं में क्रियाओं और सर्वनाम का संयोग इस प्रकार से होता है कि क्रिया का अस्तित्व ही शेष नहीं रहता। बास्क भाषा का एक उदाहरण दृष्टव्य है :

वकार्क ओत – मैं इसे उसके पास ले जाता हूं।

नकार्सु – तुम मुझे ले जाते हो।

इन दोनों ही वाक्यों में सर्वनाम और क्रियाओं के अतिरिक्त संज्ञा, विशेषण अव्यय आदि का योग नहीं होता है।

(ग) **श्लिष्ट योगात्मक** (Inflactional) **विभक्ति-प्रधान**– श्लिष्ट योगात्मक भाषाओं के वाक्यों में विभक्ति की प्रधानता होती है, जिनमें वाक्य आदि का संबंध विभक्ति के द्वारा प्रकट होता है। विभक्ति-प्रधान वाक्य में प्रत्यय ही संबंध का ज्ञान कराते हैं। किंतु स्वयं से अस्तित्वहीन हो जाते हैं। "योगात्मक भाषाओं में प्रकृति-प्रत्यय का भेद-भाव स्पष्ट बना रहता है और उनका पूरी रीति से एकीभाव नहीं होने पाता। इसके विरुद्ध, विभक्तियुक्त भाषाओं में प्रकृति और प्रत्यय का प्रायः एकीभाव हो जाता है।"... जहां योगात्मक भाषाओं में प्रकृत्यांश सदा जैसा-का-तैसा रहता है और प्रत्ययांश में ही थोड़ा परिवर्तन होता है, वहां विभक्तियुक्त भाषाओं में प्रकृत्यंश भी परिवर्तित हो जाता है।

इस प्रकार "विभक्तियुक्त भाषाओं में प्रकृति और प्रत्यय–दोनों के परिवर्तित हो जाने से ही दोनों परस्पर इतने सट जाते हैं कि उनमें बिल्कुल एकीभाव हो जाता है।"[1] डॉ. मंगलदेव ने आकृति के आधार पर भाषाओं के तीन वर्गीकरण किए हैं–अयोगात्मक, योगात्मक और विभक्ति-प्रधान। उनके वर्गीकरण का आधार यही है। पुनश्च वे लिखते हैं कि–"दोनों की शब्द-रचना का मूल सिद्धांत एक ही है; केवल भेद इतना

1. तुलनात्मक भाषा विज्ञान–डॉ. मंगलदेव, पृष्ठ 72-73

है कि विभक्तियुक्त, भाषाओं में प्रकृति-प्रत्यय का परस्पर मेल योगात्मक भाषाओं की अपेक्षा कहीं अधिक गहरा होता है। साथ ही, विभक्तियुक्त भाषाओं में भी यह घनिष्ठ संबंध सदा नहीं पाया जाता।"[2]

श्लिष्ट योगात्मक भाषाओं में संबंध-तत्व को अर्थतत्व से इस प्रकार संश्लिष्ट कर दिया जाता है कि अर्थतत्व के अंश में विकृति आ जाती है। अर्थतत्व यद्यपि अपना अस्तित्व खो देता है; फिर भी संबंध-तत्व की झलक स्पष्ट परिलक्षित होती रहती है। उदाहरणत: ईश्वर शब्द से ऐश्वर्य की निष्पत्ति होने पर 'य' प्रत्यय जोड़ा गया है, साथ ही ई का ऐ हो गया है। वेद से वैदिक, नीति से नैतिक आदि शब्द इसी प्रकार के हैं, जहां संबंध तथा अर्थतत्व की प्रतीति स्पष्ट है। संस्कृत, अरबी आदि भाषाओं में भी इस प्रकार की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है।

विभक्तियां अंतर्मुखी हैं या बहिर्मुखी। इसी के आधार पर श्लिष्ट योगात्मक भाषाओं के विद्वानों ने दो विभाग किए हैं–

(1) अंतर्मुखी श्लिष्ट (विभक्ति-प्रधान भाषाएं),

(2) बहिर्मुखी श्लिष्ट (विभक्ति-प्रधान भाषाएं)।

इन भाषाओं के भी दो-दो उपभेद मिलते हैं :

(1) संयोगात्मक (Synthetic)

(2) वियोगात्मक (Analytic)

अंतर्मुखी भाषाओं में संबद्ध अंश अर्थतत्व के बीच में मिल जाते हैं। सैमेटिक और हैमेटिक परिवार की भाषाएं इसी वर्ग में आती हैं। बहिर्मुखी भाषाओं में जोड़े हुए अंश अर्थतत्व के अंत में आते हैं। इस वर्ग में भारोपीय परिवार की संस्कृत, लैटिन, ग्रीक आदि भाषाएं आती हैं।

अंतर्मुखी भाषाओं में एक उदाहरण अरबी भाषा का प्रस्तुत है–

क्-त्-ल् धातु का अर्थ है मारना।

क़तल	= खून।
क़ातिल	= मारने वाला।
कित्ल	= शत्रु।
यकतुल	= वह मारता है।
कितल	= प्रहार।

इन उदाहरणों में संबंध-तत्व इस प्रकार मूल धातु से संबद्ध हैं कि उन्हें अलग-अलग नहीं देखा जा सकता। अंतर्मुखी श्लिष्ट भाषा की संयोगात्मक भाषाओं का उदाहरण अरबी तथा वियोगात्मक भाषा का उदाहरण हिब्रू भाषा है।

बहिर्मुखी भाषाओं में भारोपीय परिवार की भाषाएं आती हैं : इनमें सहायक क्रिया और परसर्ग आदि को संबद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। पूर्व से ही उनकी सत्ता विद्यमान रहती

है। उदाहरणतः संस्कृत भाषा में सः गच्छति (वह जाता है)–'सः' में प्रथमा विभक्ति और 'गच्छति' में ति प्रत्यय संयोगात्मक है।

संयोगात्मक-वियोगात्मक भाषाओं की दृष्टि से आज अधिकांश भाषाएं वियोगात्मक हो गई हैं। लिथुआनियन भाषा आज भी संयोगात्मक है। संयोगात्मक भाषाओं में ग्रीक, लैटिन, संस्कृत और अवेस्ता प्रधान हैं तथा वियोगात्मक भाषाओं में हिंदी, बंगला तथा अंग्रेजी प्रधान हैं।

आकृतिमूलक-वर्गीकरण की समीक्षा

प्रारंभ में आकृतिमूलक-वर्गीकरण बहुत दिनों तक मान्य रहा है। भाषा विज्ञान का एक प्रमुख अंग भाषाओं का रूपविश्लेषण है। यह वर्गीकरण प्रधानतः रूप-विश्लेषण पर आधारित है अतः इसका महत्व स्वीकार्य है। इसीलिए डॉ. श्यामसुंदर दास ने लिखा है–"वाक्य और शब्दों की प्रकृति का सम्यक् विवेचन करने के लिए भाषाओं का आकृतिमूलक अथवा रूपात्मक वर्गीकरण अच्छा समझा जाता है।" आकृतिमूलक-वर्गीकरण भाषा के विकास-क्रम को स्पष्ट करता है।

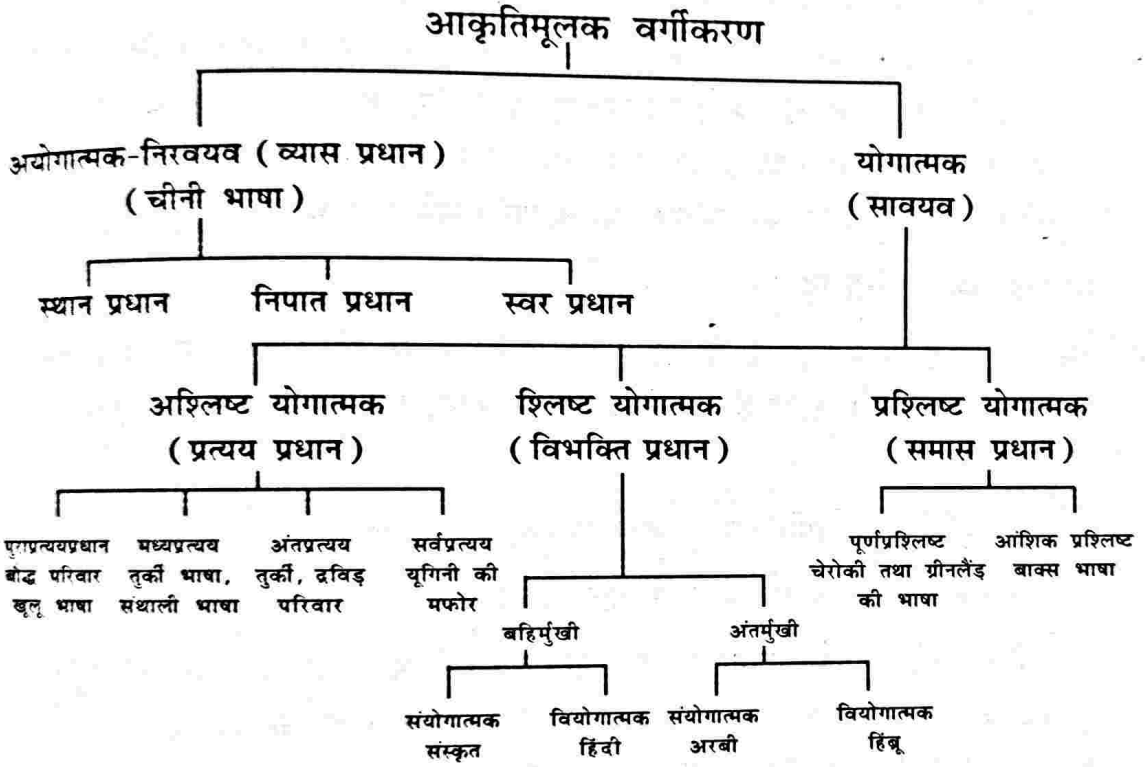

किंतु आकृतिमूलक-वर्गीकरण में विश्व की भाषाओं का समुचित विभाजन नहीं हो पाता। इस वर्गीकरण में परस्पर किसी प्रकार का भी संबंध न रखने वाली भाषाओं को एक वर्ग में रख दिया जाता है। उदाहरण के लिए, यदि हिंदी को अश्लिष्ट योगात्मक मान लें, तो उसी वर्ग में तुर्की, अफ्रीका की काफ़िर, फिलीपींस की टगलॉग, न्यूगिनी की मफोर आदि भाषाएं हैं जिनका हिंदी से किसी प्रकार का संबंध नहीं है। योगात्मक, अयोगात्मक दो वर्गीकरण स्पष्ट होते हुए भी योगात्मक भाषाओं के उपसर्गों की सीमा-रेखा अत्यंत धूमिल है। परिणामस्वरूप एक ही भाषा अश्लिष्ट, श्लिष्ट और प्रश्लिष्ट हो सकती है। हिंदी, संस्कृत, तुर्की आदि भाषाएं विभिन्न वर्गों के लिए उदाहरण दे सकने में समर्थ हैं। इसके अतिरिक्त यह वर्गीकरण भाषा के बाह्य पक्ष का सूचक है।

अतः अधिक वैज्ञानिक नहीं है। इस संबंध में देवेंद्रनाथ शर्मा ने लिखा है कि वर्गीकरण के इस आधार पर बहुत वैज्ञानिक निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते। इसके दो प्रमुख कारण हैं–

1. एक तो यह कि श्लिष्ट अथवा प्रश्लिष्ट में स्पष्ट विभाजक-रेखा खींचना कठिन है। प्रत्येक भाषा में कुछ अंश ऐसा है जो इन तीनों वर्णों में समाविष्ट हो जाता है। संस्कृत को ही ले लीजिए। उपसर्गों या क्रिया विभक्तियों का अस्तित्व अर्थ-तत्व से पृथक् झलकता रहता है। जैसे, प्रभवति, प्रहरति में उपसर्ग (प्र), धातु (भू एवं हृ) और विभक्ति (ति) का रूप बिल्कुल स्पष्ट है। 'वैदिक', 'नैतिक' आदि शब्द श्लिष्ट के उदाहरण हैं और 'जिगमिषति' आदि प्रयोग प्रश्लिष्ट के अतः आकृतिमूलक भेद स्थूल दृष्टि से ही ग्राह्य हैं; सूक्ष्मता से विचार करने पर उनमें परस्पर सौकर्य आ जाता है, जो वैज्ञानिकता का विरोधी है।

2. संसार की समस्त भाषाओं का अब तक अध्ययन नहीं हो पाया है। संभव है, उसका अध्ययन होने पर और भी आकृतिगत या रूपात्मक विशेषताओं का पता लगे। अभी संयोगात्मक भाषाओं की जितनी जानकारी है, वह भी अपर्याप्त है। जिस गहराई से भारत-यूरोपीय परिवार की भाषाओं का अध्ययन हुआ है, उस गहराई से चीनी, बर्मा आदि का नहीं। अतः अयोगात्मक भाषाओं के संबंध में जो निष्कर्ष निकलते हैं वे अखंडनीय हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसीलिए आकृतिमूलक वर्गीकरण का अब वह महत्व नहीं रह गया है जो पहले था। भाषा विज्ञानी आकृतिमूलक वर्गीकरण से पारिवारिक वर्गीकरण को अधिक महत्वपूर्ण मानने लगे हैं।"[3]

(ब) पारिवारिक वर्गीकरण

पारिवारिक वर्गीकरण में रचनातत्व के साथ ही अर्थतत्व पर भी ध्यान दिया जाता है। इन भाषाओं के रचना साम्य के साथ ही अर्थसाम्य या अर्थतत्व पर ध्यान रखना अनिवार्य है। इस प्रकार दोनों का भेद है–

(क) आकृतिमूलक वर्गीकरण = शब्द प्रधान, रचनातत्व मुख्य

(ख) पारिवारिक वर्गीकरण = अर्थप्रधान, रचनातत्व + अर्थतत्व

पारिवारिक वर्गीकरण को वंशानुक्रम पर आधारित होने से Genealogical (वंशानुक्रमिक) (Genea = वंश) तथा भूगोल एवं इतिहास पर निर्भर होने से Historical (ऐतिहासिक) कहते हैं। एक परिवार एक भौगोलिक क्षेत्र में व्याप्त होता है।

विश्व की समग्र भाषाओं को एक बड़ा कुल मानकर उनको विभिन्न परिवारों में विभक्त किया गया है। जैसा कि फैडरिक मूलर आदि विद्वानों का विचार है, समस्त विश्व की भाषाओं को सौ भाषा-परिवारों में विभक्त किया जा सकता है। कुछ विद्वानों के अनुसार दो सौ पचास से कम भाषा-परिवार नहीं हैं। किंतु अद्यावधि उपलब्ध भाषाओं को अध्ययन की सुविधा के लिए भौगोलिक आधार पर चार भौगोलिक खंडों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक खंड की भाषाएं दूसरे खंडों की भाषाओं से पूर्णतः प्रभावित हैं। अतः इस दृष्टिकोण के आधार पर भाषा के चार खंड हैं–(1) अमेरिका खंड, (2) अफ्रीका खंड, (3) प्रशांत महासागर खंड, (4) यूरेशिया खंड।

---

3. भाषा-विज्ञान की भूमिका, पृष्ठ 108

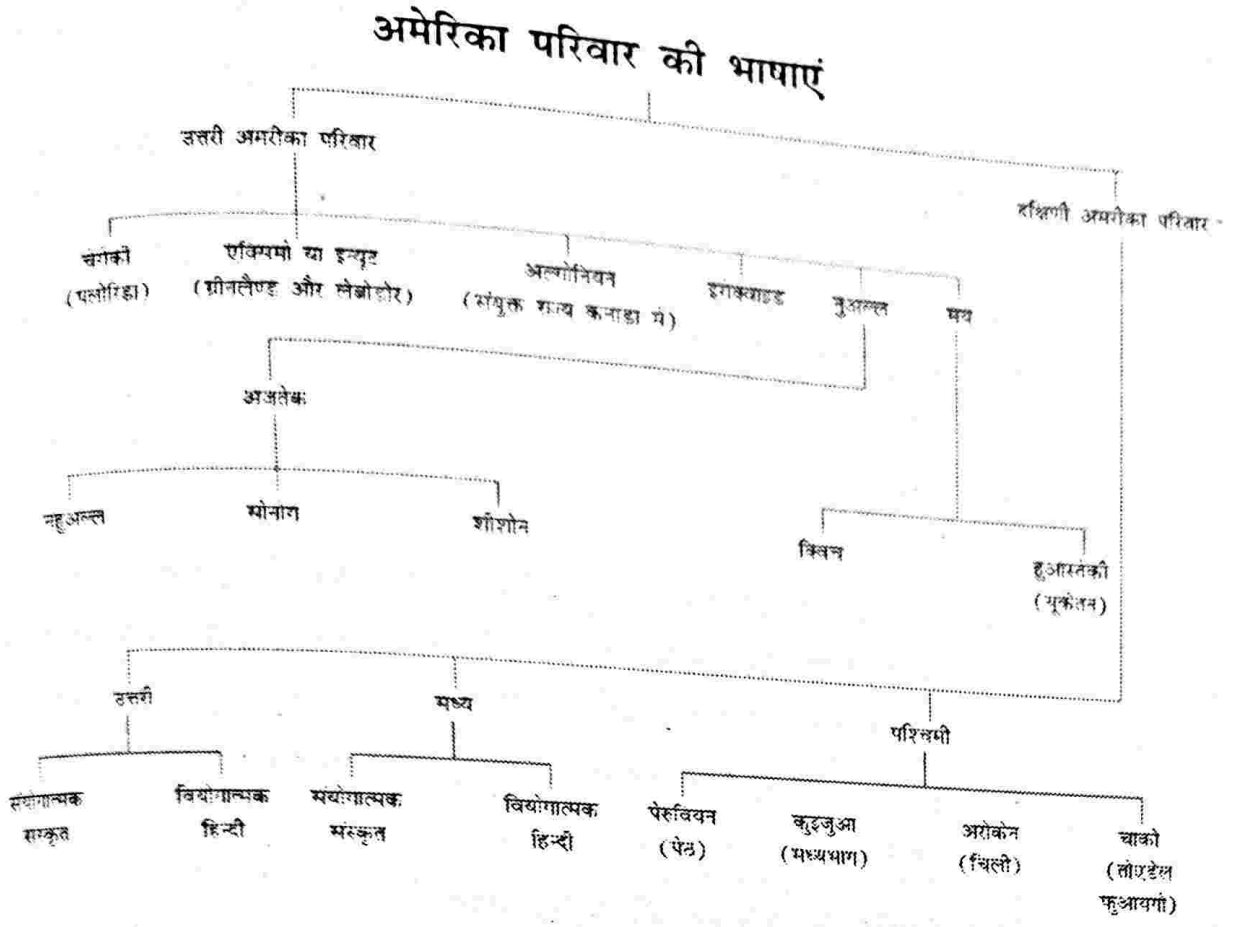

1. **अमेरिका खंड**—इस वर्ग के अंतर्गत उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका में बोली जाने वाली लगभग चार सौ भाषाओं की गणना की जाती है। किंतु इस वर्ग की अधिकांश भाषाएं अनुसंधान एवं अध्ययन की प्रतीक्षा में हैं। अधिकांश भाषाएं साहित्य एवं लिपि-रहित हैं तथा अपनी अविकसित दशा में यात्रा पूरी कर रही हैं। मैक्सिको की 'मय' तथा 'नहुअल' भाषाओं की अपनी लिपि तथा साहित्य भी है।

   इस भूखंड की भाषाएं प्रश्लिष्ट योगात्मक समास-प्रधान हैं। वाक्य बनाने के लिए शब्दों के प्रधान अंश लेकर मिलाते जाते हैं और एक शब्दवाक्य बन जाता है। एक लंबे शब्द के रूप में एक वाक्य ही इन भाषाओं में कार्य में आता है। कभी-कभी इन भाषाओं में दस-बारह शब्द मिलकर एक शब्द-वाक्य की रचना करते हैं; उदाहरण के लिए—चैरोकी भाषा का पूर्व परिचित उदाहरण ही यहां दृष्टव्य है—'नाधोलिनिन' वाक्य में 'नेतन', 'आमोखल' तथा 'निन' शब्द हैं। 'नतेन' का अर्थ है लाओ, आमोखल का अर्थ नाव तथा 'निन' का अर्थ हमको। इस प्रकार नाधोलिनिन का अर्थ है—हमको नाव लाओ।

   इस वर्ग की भाषाओं के अध्ययन व सामग्री के अभाव में विशेष वर्गीकरण व विवरण देना संभव नहीं है, फिर भी विद्वानों ने इस वर्ग की भाषाओं का एक स्थूल वर्गीकरण किया है, जो ऊपर प्रदर्शित है।

2. **अफ्रीका खंड**— इस भूखंड में अफ्रीका में बोली जाने वाली समस्त भाषाओं का समावेश होता है। इस खंड में प्रधानतः पांच भाषा-परिवार हैं—

   (क) बुशमैन, (ख) बांटू, (ग) सूडान, (घ) हैमेटिक या हामी और (ङ) सैमेटिक या सामी।

   (क) **बुशमैन भाषा-परिवार**—बुशमैन अफ्रीका के मूल निवासियों की एक जाति का नाम है। यह जाति ऑरेंज नदी से नगामी झील तक बसी हुई है। अफ्रीका के

निवासियों की यह भाषा प्राचीनतम है तथा जंगली जातियों की भाषा के रूप में प्रसिद्ध है। इस भाषा में लोक-गीत एवं लोक-कथाओं के अतिरिक्त किसी प्रकार का साहित्य नहीं मिलता है। डॉ. ब्लाख के अनुसार इस परिवार की भाषाएं 'अश्लिष्ट-अंत-योगात्मक' थीं, किंतु क्रमशः अयोगात्मकता की ओर अग्रसर हैं। इन भाषाओं के लक्षण सूडान-परिवार तथा बांटू कुल की 'जुलू' भाषा से मिलते-जुलते हैं। इस परिवार की भाषाओं की सामान्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

(i) इस परिवार की भाषाओं में एकवचन की पुनरावृत्ति कर बहुवचन बनाया जाता है।

(ii) इस परिवार की ध्वनियां कुछ विचित्र हैं। अतः विदेशियों के द्वारा उनका यथावत् उच्चारण दुस्साध्य है। इन्हें स्फोटात्मक क्लिक-ध्वनि कहा जाता है। ये ध्वनियां दंत्य, मूर्धन्य, पार्श्विक, तालव्य और ओष्ठ्य हैं।

(iii) इन भाषाओं में लिंग के नियम पुरुषत्व या स्त्रीत्व पर आधारित न होकर चेतन-अचेतन पर अवलंबित हैं।

(iv) हुटंटाट इस परिवार की प्रमुख भाषा है।

(ख) **बांटू भाषा परिवार**–बांटू परिवार की भाषाएं मध्य और दक्षिणी अफ्रीका की भाषाएं हैं। इसके दक्षिण में बुशमैन परिवार की भाषाओं तथा उत्तर में सूडान परिवार की भाषाओं का प्रयोग होता है। इस परिवार में लगभग एक सौ पचास भाषाएं हैं, जिन्हें पूर्वी, मध्यवर्ती तथा पश्चिमी इन तीन वर्गों में विभक्त किया जाता है।

(1) इन भाषाओं में साहित्य का अभाव है। (3) संयुक्त व्यंजनों का अल्प प्रयोग होता है, समस्त शब्द स्वरांत हैं, परिणामस्वरूप भाषाएं मधुर तथा संगीतात्मक हैं। (3) इस परिवार की भाषाएं पूर्व अश्लिष्ट योगात्मक अथवा पुरःप्रत्यय-प्रधान हैं। (4) पदों की रचना उपसर्ग जोड़कर अधिक होती है। (5) इन भाषाओं में लिंग विचार का अभाव तथा स्वरों की विभिन्नता से अर्थ की भिन्नता होती है।

(ग) **सूडान भाषा परिवार**–सूडान परिवार में भूमध्य रेखा के उत्तर में पूर्व से पश्चिम तक विस्तीर्ण भू-भाग में बोली जाने वाली भाषाओं का समावेश होता है। इसके उत्तर भाग में हैमेटिक परिवार की भाषाएं बोली जाती हैं। इस परिवार में लगभग चार सौ पैंतीस भाषाएं बोली जाती हैं, किंतु लिपियां पांच-छह के ही पास हैं। इस परिवार की प्रमुख भाषाएं 'वाइ', 'मोम-, 'कनूरी हाउसा' तथा 'प्यूल' हैं।

(1) ये भाषाएं पढ़ने में सरस हैं। (2) इन भाषाओं में 'नूबी' भाषा के काप्टी लिपि में लेखबद्ध चतुर्थ शताब्दी तक के कुछ लेख उपलब्ध हैं। (3) इस परिवार की भाषाएं चीनी भाषा की तरह अयोगात्मक व्यास प्रधान हैं। (4) विभक्तियों का सर्वथा अभाव है। (5) प्रत्ययों के अभाव के कारण अर्थभेद

स्वरों पर आधृत हैं। (6) इन भाषाओं में व्याकरण का अभाव है। (7) लिंग-बोधक कुछ शब्दों से लिंग की जानकारी होती है। (8) बहुवचन के नियम भी अस्पष्ट हैं। (9) वाक्य प्रायः छोटे-छोटे होते हैं। (10) इस परिवार को चार भागों में विभक्त कर उसकी भाषाओं का अध्ययन किया गया है–(क) सेनेगल भाषाएं, (ख) ईव भाषाएं (ग) मध्य अफ्रीका समूह, (घ) नील नदी के ऊपरी भाग की बोलियां। इन चारों वर्गों में प्रथम वर्ग की 'बोलोफ' तथा 'ईव' भाषाएं प्रमुख हैं।

(घ) **हैमेटिक भाषा परिवार**–हैमेटिक या हामी परिवार की भाषाएं संपूर्ण उत्तरी अफ्रीका में बोली जाती हैं। इंजील के आख्यान के अनुसार नौह के द्वितीय पुत्र हैम व अफ्रीका के कुछ भागों–मिस्र, फोनेशिया, इथोपिया में 'आदि पुरुष' के रूप में मान्य हैं। उन्हीं के नाम पर इस परिवार का हैमेटिक परिवार नामकरण हुआ है। इस परिवार की अनेक भाषाएं नष्ट होती जा रही हैं।

(1) इन भाषाओं में धार्मिक साहित्य और प्राचीन अभिलेख भी मिलते हैं। (2) इस परिवार की भाषाओं पर दूसरे परिवारों की भाषाओं का प्रभाव अधिक है। (3) इस परिवार की प्रमुख भाषा मिस्री तथा लीबियन है। (4) मिस्री भाषा-गठन में सरल धातुएं, एकाक्षर तथा अनेकाक्षर हैं, विभक्तियों के लिए प्रत्यय-योजना नहीं होती। (5) आदि, मध्य और अंत में धातुएं जोड़कर पदों की रचना होती है। (6) ये भाषाएं श्लिष्ट योगात्मक विभक्ति-प्रधान हैं, जो संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर उन्मुख हैं। (7) इन भाषाओं में स्वर-परिवर्तन से अर्थ-परिवर्तन होता है। (8) विशेष बल देने के लिए पुनरुक्ति का प्रयोग होता है। (9) इन भाषाओं में क्रिया से काल का बोध नहीं होता, अपितु काल का बोध कराने के लिए सहायक शब्दों का प्रयोग होता है। (10) बहुवचन के रूप विभिन्न होते हैं।

(ङ) **सैमेटिक भाषा परिवार**–सैमेटिक या सामी अफ्रीका में इस परिवार की भाषा मोरक्को से स्वेज तक बोली जाती है। इस कुल की प्रधान भाषा अरबी है। यही अल्जीरिया और मोरक्को में राजभाषा के रूप में प्रयुक्त होती है। इस परिवार की भाषाओं में हिब्रू, आरमेनियन भी हैं। (1) भाषाएं श्लिष्ट योगात्मक विभक्ति प्रधान हैं। (2) विभक्तियां अंतर्मुखी हैं। धातु-रचना तीन व्यंजनों से होती है। (4) स्वर-परिवर्तन से अर्थ-परिवर्तन होता है। (5) क्रिया द्वारा काल का बोध नहीं होता। (6) बहुवचन बनाने के लिए प्रत्ययों का प्रयोग होता है।

3. **प्रशांत महासागर खंड**–इस खंड की भाषाएं प्रशांत-महासागर और हिंद-महासागर के द्वीपों में विस्तृत भूखंड में व्याप्त हैं। इस वर्ग में मालवा, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, न्यूगिनी, फिलिपींस, फारमोसा आदि न्यूजीलैंड की भाषाएं आती हैं। इस खंड के भाषा-परिवार को पालोनेशियाई-परिवार भी कहते हैं।

(1) इस परिवार के अंतर्गत आने वाली समस्त भाषाओं का मूल एक होने के कारण उनके पद-रचना और वाक्य रचना में पर्याप्त साम्य मिलता है। (2) इस परिवार की

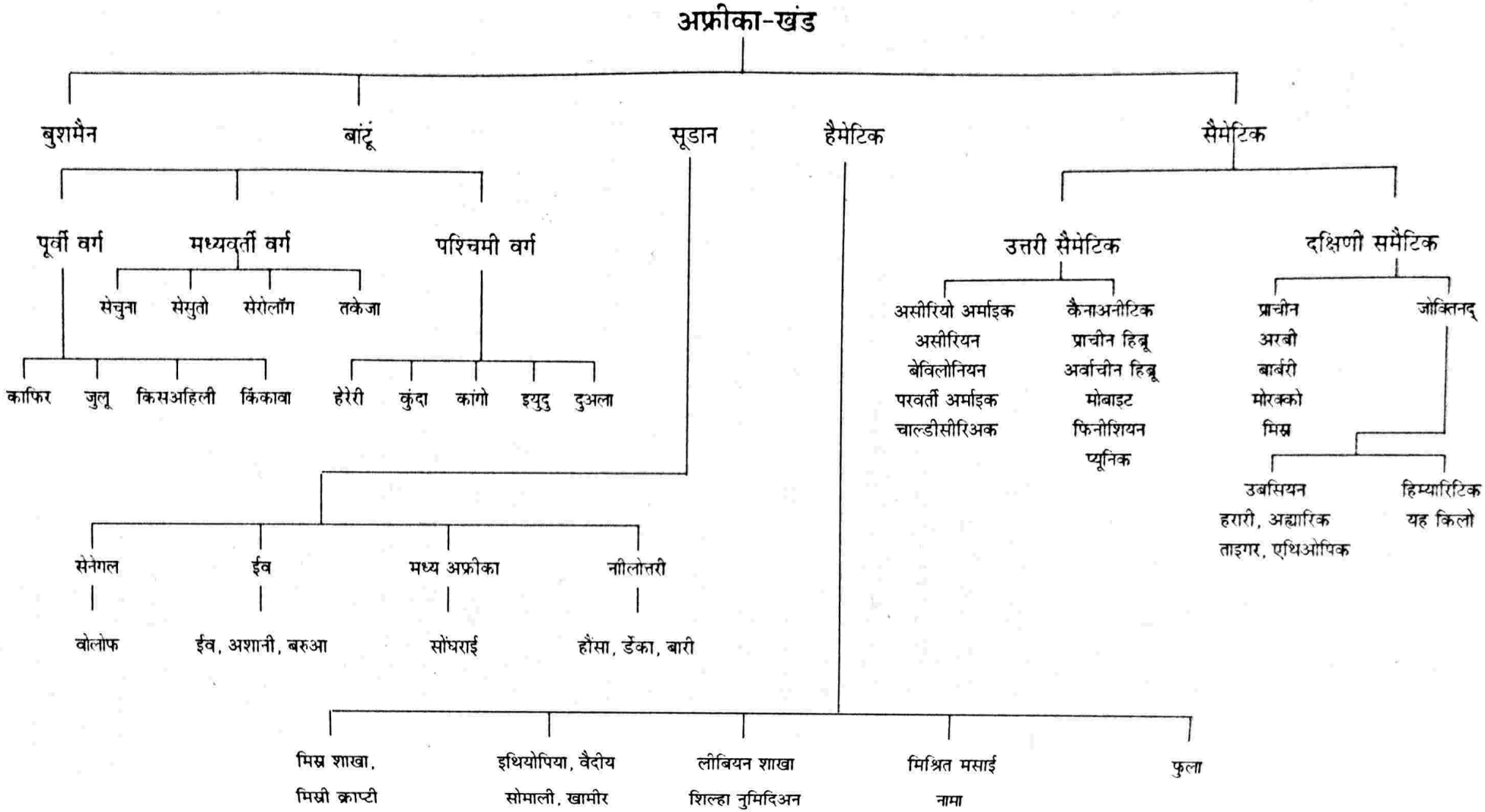
अफ्रीका-खंड
बुशमैन
बांटू
सूडान
हैमेटिक
सैमेटिक
पूर्वी वर्ग
मध्यवर्ती वर्ग
पश्चिमी वर्ग
सेचुना
सेसुतो
सेरोलॉंग
तकेजा
काफिर
जुलू
किसअहिली
किंकावा
हेरेरी
कुंदा
कांगो
इयुदु
दुअला
उत्तरी सैमेटिक
दक्षिणी सैमेटिक
असीरियो अर्माइक
असीरियन
बेबिलोनियन
परवर्ती अर्माइक
चाल्डीसीरिअक
कैनाअनीटिक
प्राचीन हिब्रू
अर्वाचीन हिब्रू
मोबाइट
फिनोशियन
प्यूनिक
प्राचीन
अरबी
बार्बरी
मोरक्को
मिस्र
जोक्तिनद्
उबसियन
हरारी, अह्यारिक
ताइगर, एथिओपिक
हिम्यारिटिक
यह किलो
सेनेगल
ईव
मध्य अफ्रीका
नीलोत्तरी
वोलोफ
ईव, अशानी, बरुआ
सोंघराई
हौंसा, डेंका, बारी
मिस्र शाखा,
मिस्री क्राप्टी
इथियोपिया, वैदीय
सोमाली, खामीर
लीबियन शाखा
शिल्हा नुमिदिअन
मिश्रित मसाई
नामा
फुला

समस्त भाषाएं अश्लिष्ट योगात्मक प्रधान हैं। (3) धातुएं प्राय: दो अक्षरों की हैं, प्रथम अक्षर पर बलाघात होता है। (4) संज्ञा में लिंगभेद नहीं मिलता है, उनके रूप भी परिवर्तित नहीं होते हैं। (5) क्रियाओं में उपसर्ग, प्रत्यय, मध्य में संयुक्त होते हैं। (6) आदि, मध्य और अंत में शब्द संयुक्त कर पद निर्मित होते हैं। (7) समस्त भाषाएं क्रमश: संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर उन्मुख हैं। इस परिवार के अंतर्गत अनेक भाषाएं व बोलियां हैं, किंतु साहित्यिक भाषाएं अल्प ही हैं। इस खंड की समग्र भाषाएं पांच परिवारों में विभक्त की जा सकती हैं। (क) मलयन परिवार अथवा इंडोनेशियाई परिवार, (ख) मलेनेशियाई परिवार, (ग) पालीनेशियाई परिवार, (घ) पपुअन या पापुआई परिवार, (ङ) ऑस्ट्रेलियाई परिवार।

(क) **मलयन परिवार**–मलय प्रायद्वीप, सुमात्रा, जावा, फिलीपींस प्रायद्वीप के अंतर्गत बोली जाने वाली मलय, जावी, सुन्दियन, तगाल, लदोनी, होता अथवा मलगासी आदि इस परिवार की मुख्य भाषाएं हैं।

(1) इन भाषाओं को बोलने वालों की संख्या लगभग पांच करोड़ है। (2) इनमें कुछ भाषाएं साहित्य-संपन्न भी हैं। (3) आदि, मध्य और अंत तीनों स्थानों पर उपसर्ग, परसर्ग जोड़कर पद-रचना की जाती है। (4) शब्द और धातु में कोई विशेष अंतर नहीं है। (5) एक ही शब्द संज्ञा, क्रिया, क्रिया-विशेषण सभी का कार्य कर सकता है। (6) बहुवचन के लिए पुनरावृत्ति का सहारा लिया जाता है। (7) इस भाषा-परिवार का क्षेत्र प्राचीनकाल में भारत का उपनिवेश था; फलत: संस्कृत के अनेक शब्द इन भाषाओं में मिल जाते हैं।

(ख) **मलेनेशियाई परिवार**–इस परिवार की भाषाओं का क्षेत्र प्रशांत महासागर के फीजी आदि लघुकाय द्वीपों में व्याप्त है। इस परिवार की फीजी-भाषा मुख्य है।

(1) इस भाषा का स्वरूप मलय जैसा अधिक है। (2) फीजी भाषा पर्याप्त समृद्ध है, साथ ही साहित्य-संपन्न भी है। (3) इसके अंतर्गत अनेक उपभाषाएं भी बोली जाती हैं। (4) इस वर्ग की भाषाओं में एकवचन और द्विवचन तथा बहुवचन भी पाया जाता है। (5) इस परिवार की भाषाएं मलयन परिवार से अधिक विकसित हैं। (6) अधिकांश भाषागत विशेषताएं मलयन परिवार से साम्य रखती हैं। (7) इस परिवार की भाषाओं का एक ही शब्द संज्ञा, क्रिया और क्रिया-विशेषण बन जाता है। (8) शब्द पर बल देने के लिए उसको पुनरावृत्ति भी की जाती है। (9) इस भाषा-परिवार में प्रत्यय और उपसर्गों का प्राधान्य है।

मलेनेशियाई परिवार

(ग) **पालिनेशियाई परिवार**–ये भाषाएं मलेनेशिया के पूर्व-दक्षिण में बोली जाती हैं। (1) यह भाषा परिवार भाषाओं की दृष्टि से पर्याप्त समृद्ध है। (2) भाषाएं

विकसित हैं। (3) व्यंजनों का प्रायः इसमें अभाव है। (4) संयुक्त-स्वर और संयुक्त-व्यंजनों की तो सत्ता ही नहीं है। (5) एकवचन, द्विवचन और बहुवचन का अस्तित्व है। अर्थ को प्रभावात्मक बनाने के लिए पुनरावृत्ति का सहारा लिया जाता है। क्रमशः इस परिवार की भाषाएं वियोगात्मकता की ओर बढ़ रही हैं।

पालिनेशियाई परिवार

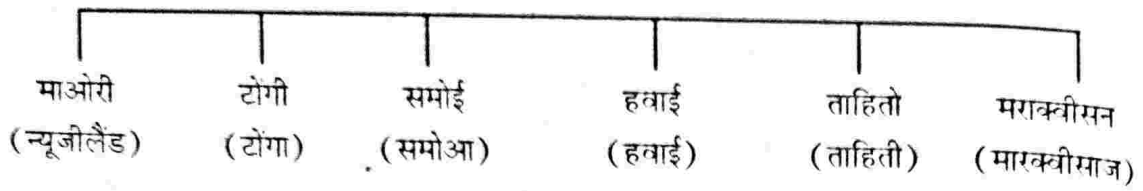

(घ) **पापुआई परिवार**–इस परिवार की भाषाओं का क्षेत्र मलाया और पालिनेशिया के मध्य न्यूगिनी आदि अल्पकाय द्वीपों में है। (1) इस परिवार की भाषाएं प्रायः अश्लिष्ट योगात्मक हैं। (2) पद-रचना के लिए उपसर्ग और प्रत्यय की योजना होती है। (3) बहुवचन के लिए सी प्रत्यय का प्रयोग होता है। (4) इस परिवार की एकमात्र प्रसिद्ध एवं प्रधान भाषा 'मफोर' भाषा है। इसी का अध्ययन अभी तक हो सका है।

(ङ) **ऑस्ट्रेलियाई परिवार**–इस परिवार के अंतर्गत ऑस्ट्रेलिया तथा रस्सानियां द्वीपों के निवासियों की भाषाओं का समावेश होता है। (1) ये भाषाएं अश्लिष्ट योगात्मक तथा अंतः प्रत्यय-प्रधान हैं। (2) 'मैक्वारी' तथा 'कमिलरोई' इस परिवार की प्रधान भाषाएं हैं।

(4) **यूरेशिया खंड**–इस खंड की भाषाएं विश्व की संपन्न भाषाओं के अंतर्गत आती हैं। इन भाषाओं में विश्व की विकसित जातियों की सभ्यता एवं संस्कृति का इतिहास लेखबद्ध प्राप्त होता है। इस खंड की भाषाएं ही संसार की प्राचीनतम साहित्यनिधि की कुंजी हैं। इस खंड की भाषाओं का सविस्तार अध्ययन किया गया है। इसमें निम्नलिखित भाषा-परिवार आते हैं–(क) सैमेटिक परिवार–सामी परिवार, (ख) काकेशस परिवार, (ग) यूराल-अल्टाई परिवार, (घ) चीनी परिवार–एकाक्षर परिवार, (ङ) द्रविड़ परिवार, (च) ऑस्ट्रेलियाई परिवार–आग्नेय परिवार, (छ) भारोपीय परिवार, (ज) विविध भाषाओं का अनिश्चित परिवार।

(क) **सैमेटिक परिवार**–इस परिवार का संक्षिप्त विवेचन हम अफ्रीका खंड के अंतर्गत कर चुके हैं। 'नौह' के पुत्र 'मैम' दक्षिणी-पश्चिमी एशिया के 'आदिपुरुष' के रूप में मान्यता प्राप्त हैं। अतः उन्हीं के नाम पर इस परिवार का नामकरण हुआ है।

(1) इस परिवार का साहित्य प्राचीन है। (2) लिपि- परंपरा भी संभवतः प्राचीनतम है। (3) इस परिवार की भाषाएं श्लिष्ट योगात्मक विभक्ति-प्रधान हैं। (4) धातुओं की रचना त्रिव्यंजनात्मक है। (5) विभक्तियां अंतर्मुखी हैं। (6) कर्ता, कर्म और संबंध तीन ही कारक इस परिवार की भाषाओं में मिलते

हैं। (7) सर्वनाम क्रियाओं के अंत में संयुक्त किए जाते हैं। (8) इस परिवार की भाषाएं मोरक्को से स्वेज नहर तक बोली जाती हैं। प्रधान क्षेत्र एशिया ही है। (9) हिब्रू, आरमेनियन और अरबी इस परिवार की प्रधान भाषाएं हैं। (10) इस परिवार की भाषाओं में स्वर विकास ही भाषाओं के रूप में परिवर्तन करता है। (11) उसी के द्वारा मात्रा, संख्या, स्थान आदि का बोध होता है। (12) इस परिवार की भाषाओं में लिंग-भेद भी मिलता है। 'त्' या 'अत्' प्रत्यय स्त्रीलिंग बोधक है; अरबी भाषा में इब्न् (बेटा) और बिन्त् (बेटी), असोरी में मलक् (राजा) और मलकत् (रानी)।

इस परिवार की भाषाओं को उत्तर सैमेटिक और दक्षिण सैमेटिक इन दो भागों में बांटकर इनका अध्ययन किया जा सकता है।

(ख) **काकेशस परिवार**–इस परिवार का क्षेत्र कृष्णसागर एवं केस्पियन सागर के मध्य काकेशस पर्वत पर है। इस क्षेत्र में दो भाषा-समूह प्राप्त होते हैं। एक को उत्तरी शाखा और दूसरे को दक्षिणी शाखा कहते हैं। इन दोनों ही शाखाओं के भाषा-भाषियों की संख्याएं क्रमशः पांच लाख और पंद्रह लाख के लगभग हैं।

पर्वताच्छन्न इस भाग में अनेक बोलियां हैं, जो परस्पर पर्याप्त भिन्न लगती हैं। (1) इस परिवार की भाषाएं अश्लिष्ट योगात्मक प्रत्यय-प्रधान हैं। (2) प्रत्यय पूर्व और पर दोनों ही प्रकार के हैं। (3) उत्तरी काकेशी परिवार में स्वरों का अभाव तथा व्यंजनों का बाहुल्य है। (4) पद-रचना जटिल है। (5) 'अवर' बोली में ही संज्ञा की तीस विभक्तियां तथा 'चेचेन' भाषा में संज्ञा में छह लिंग हैं। (6) क्रिया के रूप जटिल हैं। (7) फलतः मूल धातु का ज्ञान भी कभी-कभी कठिन हो जाता है। (8) इस परिवार की प्रमुख भाषा जार्जियन है, जिसमें शताब्दियों का साहित्य उपलब्ध होता है। (9) इसकी अपनी लिपि है। किंतु अन्य भाषाएं साहित्य और लिपि शून्य हैं।

(ग) **यूराल-अल्टाई परिवार**–इस परिवार की भाषाओं का क्षेत्र यूराल और अल्टाई पर्वतों के मध्य में है। इसलिए इसका यह नाम सार्थक है। विद्वानों ने सर्वप्रथम इस परिवार के नाम तूरानी, फिनोतातारिक, स्कीथियन आदि रखे थे। किंतु अब तुर्की भाषा से अधिक संबंध रखने वाले इस परिवार का नाम यूराल अल्टाई ही अधिक प्रसिद्ध है।

इस भाषा-परिवार की भाषाएं भारोपीय भाषा-परिवार के पश्चात विस्तृत भू-खंड की भाषाएं हैं जो "यूराल पर्वत के मध्य में टर्की, हंगरी और फिनलैंड से लेकर ओरबोत्सक सागर तक और भूमध्य-सागर से लेकर उत्तरी सागर तक फैली हुई हैं।" यह भाषा-परिवार पारस्परिक भाषा की समानता के कारण दो वर्गों में बांट दिया गया है–यूराल परिवार और अल्टाई परिवार। यूराल नामक उप-परिवार में फीनी-उग्री और समोयेदी तथा अल्टाई परिवार में तुर्की, मंगोली और तुगूजी नामक भाषा-समूहों की गणना की जाती है। इन दोनों ही उप-परिवारों में धातु, ध्वनि और शब्द समूह की दृष्टि से अल्प भेद होने पर भी पर्याप्त साम्य मिलता है।

(1) इस परिवार की भाषाएं पर-प्रत्यय प्रधान अश्लिष्ट अंतः योगात्मक हैं। (2) दोनों ही उप-परिवारों की भाषाओं में स्वर की अनुरूपता भी मिलती है। (3) शब्दों में संबंधवाचक प्रत्यय संयुक्त किया जाता है। (4) इस परिवार की समग्र धातुएं अव्यय के समान हैं।

भाषाओं की अधिकता के कारण विद्वान भाषा-परिवार कहने की अपेक्षा भाषा-समुदाय कहना अधिक उचित समझते हैं। इस परिवार की फिनिश भाषा प्राचीनतम साहित्य-संपन्न भाषा है। मेग्यर बारहवीं सदी से प्राप्त भाषा है। इस भाषा के बोलने वाले लगभग एक करोड़ हैं। तुर्की भाषा भी काव्य तथा साहित्य संपन्न भाषा है। तुर्की की लिपि अब अरबी के स्थान पर रोमन स्वीकार कर ली गई है। तुर्की भाषा-भाषी लोग लगभग चार करोड़ हैं। इसका साहित्य चौदहवीं सदी से प्राप्त होता है।

(घ) **एकाक्षर चीनी परिवार**–एशिया के पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी भाग की ओर एक बड़े भू-खंड में एकाक्षर परिवार की भाषाएं बोली जाती हैं। इस परिवार की भाषाओं के बोलने वालों की संख्या केवल भारोपीय परिवार के लोगों से कम है। इसकी प्रधान भाषा चीनी है। यह भाषा-परिवार चीन, स्याम, तिब्बत और बर्मा तक फैला हुआ है।

इस परिवार की : (1) भाषाएं अयोगात्मक हैं जो चीनी, स्यामी, तिब्बती, बर्मी आदि हैं। किंतु भाषाएं एकाक्षर हैं। (2) चीनी भाषा ही प्राचीनतम एवं साहित्य-संपन्न भाषा है। (3) स्थान-भेद से अर्थ-भेद इस भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है। (4) इस परिवार की भाषाओं में एक शब्द विभिन्न स्वरों से विभिन्न अर्थों की अभिव्यक्ति करता है। (5) चीनी भाषा में व्याकरण नामक तत्व का सर्वथा अभाव है। (6) अनुनासिक ध्वनियों का आधिक्य भी चीनी भाषा की अपनी विशिष्ट विशेषता है।

इस परिवार की चीनी पश्चात मंदारी, केंटूनी, पेकिंनी, हक्का, टोंकिनी, कोचीन-चीनी, कंबोडियाई, स्यामी आदि प्रधान बोलियां हैं। 'मेईथेई' प्राचीन साहित्य संपन्न भाषा है। इस भाषा में पंद्रहवीं शताब्दी के साहित्यिक ग्रंथ मिलते हैं। बर्मी में धार्मिक साहित्य की प्रचुरता है। तिब्बती और बर्मी निरंतर अंत:प्रश्लिष्ट योगात्मक भाषाएं होती जा रही हैं।

(ङ) **द्रविड़ परिवार**–यह भाषा-परिवार भारत में नर्मदा और गोदावरी नदियों के कुमारी अंतरीप तक दक्षिण में फैला हुआ है। इसके अतिरिक्त उत्तरी लंका, बलूचिस्तान, मध्यभारत, बिहार प्रदेश आदि में इन भाषाओं के बोलने वाले मिल जाते हैं। इस भाषा-परिवार को कभी-कभी तमिल परिवार भी कह दिया जाता है। यह भाषा-परिवार वाक्य तथा स्वर के कारण, यूराल-अल्टाई परिवार के निकट पहुंच जाता है।

इस परिवार की भाषाएं–(1) तुर्की आदि की भांति अश्लिष्ट अंत:योगात्मक हैं। (2) मूल शब्द या धातु में प्रत्यय जुड़ते हैं। (3) प्रत्यय की सत्ता स्पष्ट रहती है। (4) प्रत्ययों के कारण प्रकृति में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता है।

(5) इस परिवार की भाषाओं में निर्जीव शब्द नपुंसक लिंग के माने जाते हैं तथा अन्य शब्दों में स्त्रीलिंग और पुल्लिग सूचक शब्द संयुक्त कर दिए जाते हैं। (6) भाषाओं में दो ही वचन होते हैं। बहुवचन प्रत्यय के संयोग से बनता है। संज्ञा, सर्वनाम और क्रियाओं में बहुवचन प्रत्यय एक जैसे ही होते हैं। (7) वास्तविक क्रिया का अभाव है। (8) इन भाषाओं में कर्मवाच्य का अभाव होने के कारण कर्मवाच्य का बोध सहायक क्रिया द्वारा कराया जाता है। (9) विशेषण के विभक्ति रूप नहीं होते हैं। (10) शब्द के अंतिम व्यंजन के उच्चारण के लिए एक विशिष्ट ध्वनि का उच्चारण किया जाता है। (11) स्वर-अनुरूपता इस भाषा परिवार की विशेषता है। स्वरों के अनुसार ही प्रत्ययों का रूप परिवर्तन हो जाता है। (12) इस भाषा-परिवार में मूर्धन्य ध्वनियां, विशेषतः टवर्ग का प्राधान्य है। (13) गिनती दस पर आधारित है।

इस भाषा-परिवार में प्रधानतः चौदह भाषाएं हैं, जिनका चार उप-विभागों में विभाजन किया जाता है–(1) द्रविड़ वर्ग, (2) आंध्र वर्ग, (3) मध्यवर्ती वर्ग, (4) ब्राहुई वर्ग। इस परिवार की भाषाएं इस प्रकार हैं–कन्नड़, तमिल, तुलू, कोडगु, टुडा, मलयालम, तेलुगु, ब्राहुई, गोंड, कोंड, कुई, कोलामी, कुरुख, माल्टी।

(च) **ऑस्ट्रेलियाई परिवार : आग्नेय परिवार**–इस परिवार को स्मिथ ने ऑस्ट्रिक परिवार कहा है। यह भाषा-परिवार प्रशांत-महासागर के द्वीपों में फैला हुआ है। इसके अतिरिक्त स्याम और बर्मा के वनप्रांत, निकोबार द्वीप, आसाम की कुछ पहाड़ियां, मध्यभारत के गोंड प्रदेश और मद्रास के गंजाम जिले में इस भाषा परिवार की भाषाएं बोली जाती हैं। इस परिवार की भाषाओं के सामान्य लक्षण ये हैं–(1) भाषाएं प्रधानतः प्रत्यय-प्रधान अश्लिष्ट योगात्मक हैं। किंतु वे निरंतर वियोगात्मक हो रही हैं। (2) पद-रचना के लिए प्रत्यय आदि, मध्य और अंत तीनों ही स्थानों पर जुड़ते हैं। (3) धातुएं द्वयक्षरी हैं।

आग्नेय परिवार की भाषाएं मोन, रूमेर तथा बोलियां प्लोग 'बा' नीकोबरी आदि हैं। मोन साहित्य-संपन्न परिष्कृत भाषा है। इस परिवार की प्रमुख भाषा मुंडा है। पश्चिम बंगाल से लेकर बिहार और मध्य प्रदेश, मध्य भारत, उड़ीसा और मद्रास प्रदेश के गंजाम जिले तक यह भाषा तथा इसकी बोलियां बोली जाती हैं।

मुंडा परिवार की भाषाएं– (1) सामान्यतः सरल और स्पष्ट हैं। (2) अश्लिष्ट योगात्मक हैं। (3) इस भाषा के अन्तिम व्यंजनों के पश्चात श्रुति का अभाव है। (4) अर्द्धस्वरों और व्यंजनों के अतिरिक्त इस भाषा में विचित्र ध्वनि पाई जाती है, जिसे अर्द्धव्यंजना की संज्ञा विद्वानों ने दी है। (5) इनका उच्चारण क्लिक ध्वनियों की भांति और कभी-कभी अनुनासिकता से युक्त होता है। (6) लिंग पुर्लिंग तथा स्त्रीलिंग ये दो हैं जो सजीव और निर्जीव तत्वों के आधार पर माने जाते हैं। कभी-कभी यह लिंग हिंदी की भांति 'ई' और 'आ' से भी बन जाते हैं। (7) इस भाषा में वचन तीन हैं। द्विवचन तथा बहुवचन

के लिए संज्ञाओं में प्रत्यय जोड़े जाते हैं। (8) मुंडा भाषा की वाक्य-रचना आर्य-भाषाओं से भिन्न है। इसमें शब्द भेद की यथार्थ कल्पना कठिन है। (9) संबंध-तत्व का बोध प्रायः अंत्योग और मध्ययोग से होता है। (10) उपसर्ग भी संयुक्त किए जाते हैं। (11) मूल शब्द द्वयक्षरात्मक हैं। (12) चीनी भाषा की भांति एक ही शब्द संज्ञा, क्रिया और विशेषण आदि का रूप ले लेता है। (13) संख्याएं दस तक तथा बीस भी हैं। इन्हीं के आधार पर संपूर्ण संख्याएं बन जाती हैं। (14) क्रिया के लिए अलग शब्द नहीं है। कभी कोई शब्द एक स्थान पर क्रिया है तो दूसरे पर वही संज्ञा है। (15) प्रभावात्मकता के लिए पुनरावृत्ति की प्रवृत्ति है। (16) क्रिया-रूपों के आधार पर काल-ज्ञान होता है। (17) मुंडा परिवार की भाषाओं के अव्यय स्वतंत्र हैं।

(छ) **भारोपीय परिवार**–यह यूरेशिया ही नहीं विश्व का महान् भाषा-परिवार है, महत्वपूर्ण है, साहित्य-लिपि संपन्न है, प्राचीनतम है। अध्ययन की दृष्टि से भी इसका अध्ययन अधिकतम हुआ है। यह भाषा-परिवार सर्वाधिक विकसित भी है। अस्तु, इस परिवार की भाषाएं भारत, ईरान, आर्मीनिया, संपूर्ण यूरोप, अमेरिका, दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका, ऑस्ट्रेलिया आदि में बोली जाती हैं। इस परिवार के भाषा-भाषी सर्वाधिक हैं।

इस परिवार का नामकरण एक विवादास्पद विषय रहा है। किंतु आज भारोपीय भाषा-परिवार नाम अधिक प्रसिद्धि-प्राप्त है। सर्वप्रथम इस परिवार का नाम इंडोजर्मनिक रखा गया था, किंतु इस परिवार में केल्टी शाखा की भाषाएं भी थीं, जो जर्मन भाषा नहीं थी; अतः यह नाम उचित न होने के कारण इसका नाम इंडोकैल्टिक रखा गया। इसके सांस्कृतिक, जैफाइट, काकेशियन आर्य, इंडो-यूरोपियन आदि नाम भी रखे गए हैं। किंतु आज भारोपीय नाम ही अधिक उपयुक्त होने के कारण प्रचलित है।

(ज) **विविध भाषाओं का अनिश्चित परिवार–** भारोपीय भाषा-परिवार की दो प्रधान शाखाएं हैं–(1) भारोपीय शाखा, (2) भारत ईरानी शाखा। इन दोनों के अतिरिक्त इसके वर्गीकरण भी किए जा सकते हैं–

(क) कैल्टिक शाखा, (ख) जर्मन शाखा, (ग) इटालिक शाखा, (ग) ग्रीक शाखा, (घ) तोखारी शाखा, (ङ) अल्बेनियन शाखा, (च) लैटोस्लाव्हिक शाखा, (छ) आर्मेनियन शाखा, (ज) आर्य या हिंदी-ईरानी शाखा।

इस भाषा-परिवार की भाषाओं की सामान्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

(1) भाषाएं श्लिष्ट योगात्मक बहिर्मुखी विभक्ति-प्रधान हैं। किंतु आज ये भाषाएं भी निरंतर योगात्मकता की ओर उन्मुख हैं।

(2) धातुएं एकाक्षर हैं।

(3) प्रत्यय कृदंत एवं तद्धितांत हैं, जिनके कारण अनेक रूप एवं शब्द बनते हैं।

(4) इस परिवार में विभिन्न संबंधों के द्योतन के लिए विभक्तियां अवश्य हैं।

(5) समास इन भाषाओं का अद्‌भुत तत्व है। समास कर देने पर शब्दों की विभक्तियों का लोप हो जाता है। कभी-कभी समस्त शब्द का अर्थ भी परिवर्तित हो जाता है।

(6) भारोपीय परिवार की भाषाएं प्रत्यय-बहुल हैं, क्योंकि ये विभिन्न स्थानों पर विकसित हुई हैं।

4.2.4 आधुनिक हिंदी भाषा का उद्‌भव एवं विकास

हिंदी भाषा के उद्‌भव एवं विकास को क्रमिक रूप से इस प्रकार समझा जा सकता है–

(अ) विकास का आदि काल

हिंदी का विकास क्रमशः प्राकृत और अपभ्रंश के पश्चात हुआ है। हिंदी के विकास का स्पष्ट दर्शन हमें चन्दबरदाई के समय से होने लगता है। यह समय बारहवीं सदी का अंतिम अर्द्ध भाग है परंतु उस समय में भी इसकी भाषा हिंदी से बहुत भिन्न हो गई थी। व्याकरण के प्रसिद्ध विद्वान हेमचंद्र का समय संवत् 1144 और संवत् 1229 के बीच है। हेमचंद्र ने अपने व्याकरण में अपभ्रंश के कुछ उदाहरण दिए हैं। इससे पूर्व, विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के दूसरे भाग में वर्तमान महाराज भोज का पितृव्य द्वितीय वाकपति राजा परमार मुंज एक पराक्रमी राजा के साथ-साथ एक सहृदय कवि भी था। एक बार वह कल्याण के राजा तैलप के यहां बंदी हो गया। उसी समय मुंज ने कुछ दोहों की रचना की थी। उदाहरण रूप में एक प्रस्तुत है–

जा मति पच्छई संपज्जइ सा मति पहली होई।
मुंज भणइ मृणालपइ विघन न बेंठई कोई।

अर्थात, जो मति पीछे संपन्न होती है, वह यदि पहले हो तो मुंज कहता है, हे मृणालवती, कोई विघ्न न सतावे।

यह दोहा पढ़ते ही पता लग जाता है कि यह हिंदी के कितने पास पहुंचता है। भाषा साहित्यिक होने के कारण कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया है जिनका रूप प्राकृत है जैसे- संपज्जइ। इन्हें पृथक कर देने पर भाषा और भी स्पष्ट हो जाती है।

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हिंदी का विकास हेमचंद्र से पूर्व ही होने लगा था तथा चन्दबरदाई के समय उसका कुछ-कुछ रूप स्थिर हो गया था। अतः हिंदी का आदि काल हम संवत् 1050 के लगभग मान सकते हैं।

हिंदी प्रदेश की भाषा के सबसे प्राचीन उदाहरण पृथ्वीराज तथा समर सिंह के दरबारों से संबंधित पत्रों के रूप में थे। इनका प्रकाशन नागरी प्रचारिणी सभा ने किया था।

नाथ पंथ तथा वज्रयानी सिद्ध साहित्य से संबंधित बहुत-सी नवीन सामग्री पीतांबर दत्त बड़थ्वाल व राहुल सांकृत्यायन जैसे विद्वान सर्वप्रथम प्रकाश में लाए थे। इस साहित्य के रचयिताओं के काल का अनुमान 700 ई. से 1300 ई. के मध्य लगाया जाता है। प्रारंभिक सिद्ध साहित्य की भाषा स्पष्ट रूप से अपभ्रंश (मागधी) है।

आदि काल की भाषा का तीसरा रूप चारण, धार्मिक तथा लौकिक काव्य ग्रंथों में मिलता है। इस प्रकार के लेखकों में नरपति नाल्ह, चन्दबरदाई तथा रासो की भाषा राजस्थानी

है, कहीं-कहीं खड़ी बोली के कुछ रूप पाए जाते हैं। 'पृथ्वीराज रासो' चन्दबरदाई का प्रमुख ग्रंथ है। चंद की काव्य रचना का समय 1168 ई. से लेकर 1192 ई. तक माना जाता है। वर्तमान पृथ्वीराज रासो में ब्रजभाषा के साथ अपभ्रंश खड़ी बोली तथा राजस्थानी मिश्रण दिखलाई पड़ता है।

जगनिक चन्दबरदाई का समकालीन कवि था। वह बुंदेलखंड के राजा परमार के दरबार में था। उस कवि की मूल कृति का पता नहीं चलता है। पर यह माना जाता है कि उसके बनाए ग्रंथ के आधार पर ही प्रारंभ में आल्ह खंड की रचना हुई थी।

विद्यापति कवि के जिन पदों का संग्रह मिथिला में हुआ है, उनकी भाषा मैथिली है तथा बंगाल में संगृहीत पद समूह की भाषा बंगाली है। इनके किसी भी वर्तमान संग्रह की भाषा पंद्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ की नहीं मानी जा सकती है। हिंदी अथवा दक्खनी उर्दू साहित्य का विकास दक्षिण भाषा में हुआ। इस साहित्य का आरंभ 1326 ई. में मुहम्मद तुगलक के दक्षिण आक्रमण के पश्चात हुआ। इस साहित्य की भाषा पुरानी खड़ी बोली है। इन लेखकों में सबसे प्रसिद्ध ख्वाजा बंदा नवाज थे। इनका समय 1121 ई. से 1452 ई. तक रहा।

आदि काल की हिंदी में अपभ्रंश की लगभग सभी ध्वनियां आ गई थीं पर साथ में कुछ नई ध्वनियों का भी विकास हुआ। अपभ्रंश में संयुक्त स्वर नहीं थे। हिंदी में 'ए' तथा 'ओ' दो संयुक्त स्वर इस काल में प्रयुक्त होने लगे। व्यंजनों में एक तो दंत्योष्ठ्य 'व' नया विकसित हो गया तथा दो उत्क्षिप्त ध्वनियां 'ड़', 'ढ़' भी प्रयुक्त होने लगीं।

इस काल का साहित्य जिस भाषा में लिखा गया उसके विशेषतया दो रूप थे- डिंगल तथा पिंगल। डिंगल तो वह भाषा थी जिसमें प्राकृत के प्राचीन शब्दों का बाहुल्य था। इस भाषा का ढांचा राजस्थानी या गुजराती था। पिंगल उस भाषा को कहते थे, जिसका ढांचा पुरानी ब्रजभाषा का होता था, जिसमें थोड़ा बहुत खड़ी बोली या पंजाबी का भी पुट होता था। यह एक सामान्य साहित्यिक भाषा थी। वास्तव में हिंदी का संबंध इसी पिंगल भाषा से है। 'पृथ्वीराज रासो' इसी साहित्यिक सामान्य भाषा में लिखा गया है।

(ब) विकास का मध्यकाल

आदिकाल के पश्चात हिंदी के विकास का दूसरा चरण अर्थात मध्यकाल लगभग 525 वर्षों तक माना जाता है। इस काल को हम दो भागों में बांट सकते हैं। प्रथम भाग 1375 ई. से 1700 ई. तक मानते हैं। इस काल में हिंदी की पुरानी बोलियां परिवर्तित होकर ब्रज, अवधी तथा खड़ी बोली का रूप धारण करती हैं।

दूसरा भाग 1700 ई. से लेकर 1900 ई. तक माना जाता है। इसमें ब्रज, अवधी, खड़ी बोलियां परिष्कृत होती हैं, परिमार्जित होती हैं और उनमें प्रौढ़ता आती है। वे मात्र बोलियां न रहकर भाषा का रूप ले लेती हैं।

अवधी तथा ब्रज, इन दो बोलियों का साहित्यिक रूप में विकास सोलहवीं शताब्दी से प्रारंभ हुआ।

अवधी : मध्ययुग में भक्ति आंदोलन का विशेष स्थान है। इस काल में धर्म प्रचारकों ने जनमानस तक पहुंचने की आवश्यकता का अनुभव किया। जनमानस तक पहुंचने के लिए

जनसाधारण की भाषा का ज्ञान तथा उसका उपयोग आवश्यक हो गया। इसी आवश्यकता के कारण निर्गुण पंथी संत कवियों ने जनसाधारण की भाषा को अपनाया, उसमें कविता की परंतु इन कवियों की भाषा एक विचित्र प्रकार की खिचड़ी है।

1. संत कवि कबीर के प्रभाव से इस प्रकार की खिचड़ी भाषा में विशेषकर पूरबी भाषा (अवधी) की बहुलता रही है।
2. आगे चलकर जब यही अवधी प्रेमाख्यानक मुसलमान कवियों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनी तो इसमें किंचित परिमार्जन हुआ, जैसे- जायसी के 'पद्मावत' की अवधी।

अंत में राम भक्ति शाखा के प्रमुख कवि तुलसीदास ने उसका परिमार्जन कर उसे प्रौढ़ता प्रदान की तथा उसे साहित्यिक आसन पर सुशोभित किया। मध्य काल में अवधी में लिखे गए ग्रंथों में दो मुख्य हैं- जायसी कृत 'पद्मावत' (1540 ई.) तथा तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस' (1585)।

ब्रजभाषा : सोलहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में पुष्टि मार्ग के प्रमुख आचार्य वल्लभाचार्य से साहित्यिक सृजन को विशेष प्रोत्साहन मिला। इसका विवेचन निम्न प्रकार से है-

1. ब्रजभाषा का विकास, एक प्रकार से चिर प्रतिष्ठित प्राचीन काव्य भाषा से हुआ। 'पृथ्वीराज रासो' में इसके स्वरूप का कुछ आभास मिल जाता है। रासो की यह पंक्ति - 'तिहि रिपुजय पुरहन को भए प्रथिराज नारिंद' इसका उदाहरण है।
2. ब्रजभाषा को साहित्यिक भाषा के रूप में यशस्वी करने का श्रेय सूरदास को है। सूरदास के रचना काल के समय तक अर्थात 1550 ई. तक ब्रजभाषा संपूर्ण रूप में काव्य का माध्यम बन चुकी थी। ब्रजभाषा का रूप दिन-प्रतिदिन साहित्यिक, परिमार्जित, प्रौढ़ तथा सुसंस्कृत होता चला गया। जिस प्रकार अवधी भाषा ने तुलसी के 'रामचरितमानस' में प्रौढ़ता प्राप्त की है, उसी प्रकार अष्टछाप के कवियों की पदावली में ब्रजभाषा भी विकसित हुई।
3. घनानंद, नंददास, बिहारी, पद्माकर की कविता में तो उसका पूर्ण परिपाक हुआ। मध्यकाल के दूसरे चरण की प्रमुख विशेषता है ब्रजभाषा की विशुद्धता। वर्तमान युग में इस विशुद्धता के प्रतिनिधि के रूप में बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर का नाम लिया जा सकता है।

ध्वनियों की दृष्टि से देखा जाए तो इस काल में पढ़े-लिखे लोगों की हिंदी में क, ख, ग, ज, फ में पांच व्यंजन ध्वनियां सम्मिलित हो गईं। इस काल में लोगों की धर्म के प्रति आस्था थी, इसी कारण इस युग के पूर्वार्द्ध तक धार्मिक साहित्य अधिक लिखा गया। धर्म की प्रमुखता के कारण संस्कृत के धार्मिक ग्रंथों का प्रचार हुआ। फलतः आदि काल की अपेक्षा बहुत अधिक तत्सम् शब्द साहित्यिक भाषा में प्रयुक्त होने लगे।

(स) विकास का आधुनिक काल

आधुनिक काल खड़ी बोली का युग है। खड़ी बोली अवधी तथा ब्रज बोलियों की भांति प्राचीन है। प्राचीन तथा मध्यकाल के ग्रंथों में यत्र-तत्र खड़ी बोली के प्रयोग देखने में आते हैं, यह

बात और है कि साहित्य के माध्यम के रूप में वह इतनी शीघ्र स्वीकृत नहीं हुई। मराठा भक्त कवि नामदेव की कविता में पहले शुद्ध खड़ी बोली के दर्शन होते हैं-

पांडे तुम्हारी गायत्री लोधे का खेत खाती थी।
लैकरि ढेंगाटंगरी तोड़ी लंगत-लंगत जाती थी।।

नामदेव का जन्म 1192 ई. में हुआ था, अत: खड़ी बोली की प्राचीनता का अनुमान लगाया जा सकता है। रासो, कबीर, भूषण आदि के द्वारा खड़ी बोली का प्रयोग यह स्पष्ट करता है कि खड़ी बोली का अस्तित्व प्रारंभ से ही था यद्यपि साहित्य का माध्यम वह नहीं बनी थी। अतएव हिंदी भाषा अपने मध्यकालीन विकास में तीन रूपों में दिखाई पड़ती है- अवधी, ब्रज तथा खड़ी बोली। आधुनिक काल तक आते-आते साहित्य की माध्यम भाषा के रूप में अवधी तथा ब्रज का प्रयोग घटता गया और खड़ी बोली का प्रयोग बढ़ता गया। अठारहवीं शताब्दी में ब्रज भाषा की शक्ति क्षीण हो चुकी थी और इधर मुसलिमों के मध्य खड़ी बोली (उर्दू) जोर पकड़ चुकी थी। उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में अंग्रेजों की प्रेरणा से हिंदुओं ने खड़ी बोली गद्य के संबंध में कुछ प्रयोग किए। फलस्वरूप फोर्ट विलियम कॉलेज के लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' तथा सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना की। खड़ी बोली के प्रारंभिक ग्रंथों पर ब्रजभाषा का प्रवाह है, जो स्वाभाविक ही है।

खड़ी बोली हिंदी के विकसित रूप के गद्य साहित्य में प्रचार का प्रमुख श्रेय भारतेंदु हरिश्चंद्र को जाता है। उनके काल में भाषा में राष्ट्रीयता की एक लहर उठी। हिंदी को उर्दू-फारसी के प्रवाह से मुक्त करने का प्रयास प्रारंभ हुआ। भाषा की समृद्धि के लिए संस्कृत के शब्द लिए जाने लगे। हिंदी भाषा के परिष्कार का कार्य प्रारंभ हुआ। भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा दिखाए गए मार्ग पर हिंदी सिर ऊंचा कर आगे बढ़ती रही। इधर उसने अपने रूप को इतना विकसित कर लिया है कि समस्त गद्य साहित्य में ही नहीं वरन् पद्य साहित्य में भी खड़ी बोली का बहुलता से प्रयोग हो रहा है। इस प्रकार आधुनिक काल में खड़ी बोली हिंदी भाषा का रूप ले चुकी है।

भारतेंदु युगीन लेखकों में व्याकरण संबंधी बहुरूपता, लिंग, वचन, कारक प्रयोगों में अस्थिरता आदि दोष मिलते हैं। कालांतर में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भाषागत दोषों को दूर करने का प्रशंसनीय प्रयास किया। छायावादी कवियों को यह श्रेय दिया जा सकता है कि उन्होंने खड़ी बोली को एक उच्च साहित्यिक भाषा का रूप प्रदान किया। बाद में वह उन्मुक्त होकर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विचरने लगी। भारतेंदु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचंद्र शुक्ल, प्रेमचंद, प्रसाद, पंत, निराला, यशपाल डॉ. रांगेय राघव, मुक्तिबोध, हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि इस काल के समर्थ साहित्यकार हैं। साहित्य की समस्त विधाओं का इस युग में पर्याप्त विकास हो रहा है।

आज हिंदी भारत की राष्ट्रभाषा एवं राजभाषा है किंतु किंचित राजनीतिक एवं भौगोलिक कारणों से उसका समग्र भारत में उतना प्रचार-प्रसार नहीं हो पा रहा है, जितना कि एक स्वतंत्र राष्ट्र में होना चाहिए। किंतु आशा है, भविष्य में हिंदी समग्र भारतीयों का कंठहार बन कर विश्व की भाषाओं में समादृत स्थान पर प्रतिष्ठित होगी।

साहित्यिक हिंदी के रूप में खड़ी बोली का उद्‌भव एवं विकास

खड़ी बोली को अनेक नामों से अभिहित किया जाता है, जैसे- हिंदुस्तानी, नागरी हिंदी, सरहिंदी, कौरवी आदि। खड़ी बोली इसका सबसे नवीन नाम है। 'खड़ी बोली' शब्द का प्रथम प्रयोग 1800 ई. के लगभग मिलता है। 1805 ई. में लल्लूलाल ने अपने 'प्रेम-सागर' में इस शब्द का प्रयोग किया है। जैसे- 'प्रेम-सागर' से उद्‌धृत यह वाक्य देखिए- 'जॉन गिलक्राइस्ट महाशय की आज्ञा से सन् 1806 में लल्लूलाल कवि ब्राह्मण, गुजराती, सहस, अवदीच आगरे वाले ने इसका सार ले यामनी भाषा छोड़ दिल्ली, आगरे की खड़ी बोली में कह 'प्रेम-सागर' नाम रखा।

इससे भी पहले 1803 ई. में गिलक्रिस्ट ने इस शब्द का प्रयोग अपनी पुस्तक 'The Hindee Story Teller' में किया-

'उन कहानियों में से कोई-कोई कहानी खड़ी बोली अथवा हिंदुस्तानी की शुद्ध हिंदवी शैली में है।'

खड़ी बोली के अर्थ व व्युत्पत्ति के संबंध में 8 मत प्रचलित हैं-

1. **खड़ी का अर्थ खरी या विशुद्ध भाषा :** अरबी फारसी के शब्दों से रहित, विशुद्ध भारतीय। समर्थक- जॉन गिलक्रिस्ट, गार्सा द-तासी, केलॉग (हिंदी व्याकरण) इस्टविक प्लैटस (A Dictionary of Urdu Classical Hindi and English) सुधाकर बेदी (सीधी बोली की राम कहानी) - इन्होंने 'र' व 'ड़' को पर्याय माना है, इसलिए खड़ी बोली को खरी बोली के नाम से पुकारा। इन्होंने इसका नाम 'ठेठ हिंदी' भी दिया है। बद्रीनारायण चौधरी प्रेमघन (इन्होंने भी इसको 'ठेठ हिंदी' कहा है) चंद्रबली पाण्डेय ('उर्दू का रहस्य'- इन्होंने प्राकृत, शुद्ध या खरी बोली माना है)।
2. **खड़ी या उठी हुई :** जो पड़ी हुई न हो (पड़ी = गिरी पड़ी)। इसके समर्थकों ने ब्रज या पूर्वी बैसवाड़ी, अवधी, राजस्थानी और गुजराती को गिरी-पड़ी भाषाएं माना है। इन सब भाषाओं का विरोध करने वाली भाषा खड़ी बोली कहलाई। इसके समर्थक श्री चंद्रधर शर्मा गुलेरी, डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी हैं।
3. **खड़ी और खरी बोली दोनों का समन्वित रूप :** इन्होंने गिरी-पड़ी भाषाओं में रेख्ता को गिरी-पड़ी माना तथा इसके विरोध में उत्पन्न भाषा को खड़ी बोली माना। विदेशी शब्दों का बहिष्कार होने से इन्होंने इसे खरी बोली भी कहा। अतः यह दोनों का समन्वित रूप है। समर्थक - ब्रजरत्नदास (भारतेंदुकालीन विद्वान)।
4. **खड़ी या कर्कश बोली :** अवधी की अपेक्षा कर्कश भाषा होने के कारण इसको कर्कश कहा गया है। इस मत के समर्थक कामता प्रसाद गुरु (हिंदी व्याकरण) और डॉ. धीरेंद्र वर्मा हैं। मारवाड़ के लोग इस भाषा को 'ठेठ बोली' (कठोर-बोली) भी कहते हैं।
5. **खड़ी पाई वाली :** जिसमें 'अ' ध्वनि की मात्रा अधिक हो। खड़ी पाई के कारण इसे खड़ी बोली कहा गया। इसके समर्थक आचार्य किशोरीदास वाजपेयी हैं। इन्होंने कुछ हद तक इसका वैज्ञानिक विवेचन भी किया है।

6. **गंवारू बोली :** गांव की असंस्कृत भाषा खड़ी बोली है। एक मुसलिम लेखक अब्दुल हक ने औरंगाबाद से प्रकाशित होने वाली उर्दू पत्रिका में सन् 1904 में लिखा-

'खड़ी बोली के मायने हिंदुस्तान में आमतौर पर गंवारू बोली के हैं, जिसे हिंदुस्तान का बच्चा-बच्चा जानता है। वह न कोई खास जबान है और न जबान की कोई शाख।'

7. **प्रचलित या चलती बोली :** इन्होंने इसे बहुत अच्छी व पूर्ण स्थापित प्रचलित बोली माना है। समर्थक- टीग्राह्य बोली।

8. **टकसाली या स्टेंडर्ड बोली :** अंग्रेजी की Stand धातु से Standard बना और धीरे-धीरे इस खड़ी बोली को Standard Speech नाम दिया गया, जिसका एक निश्चित मापदंड है क्योंकि Standard= निश्चित मापदंड। समर्थक- आ. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र एवं हरदेव बाहरी।

Hindoostani Philology part-I में Standard का अर्थ खरा किया गया है, इसलिए इसका नाम खरी बोली Standard Speech बना।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि खड़ी बोली के नामकरण के संबंध में अनेक मत प्रचलित हैं, किंतु मत संख्या 1, 3, 5 अधिक मान्य है।

क्षेत्र : डॉ. ग्रियर्सन ने इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत माना है। यद्यपि इसको बोली के रूप में लिखा जाता है, लेकिन आज यह समृद्ध, संपन्न, साहित्यिक भाषा है। इसको 'राष्ट्रभाषा' का गौरव प्राप्त हो चुका है, अत: इसको बोली के रूप में मानना, इसके साथ अन्याय करना होगा।

इसका शुद्ध क्षेत्र गंगा-यमुना का उत्तरी दोआब अर्थात देहरादून का मैदानी भाग, सहारनपुर, मुजफ्फरनगर और मेरठ के पूरे ज़िले। यह पश्चिम में यमुना के समीपवर्ती अंबाला, दक्षिण पूर्व में बिजनौर और मुरादाबाद तथा रामपुर जिलों में बोली जाती है।

विकास : खड़ी बोली का स्वतंत्र अस्तित्व बहुत प्राचीन समय से ही मिलता है। ग्यारहवीं शताब्दी में अपभ्रंश मिश्रित लोकभाषा में खड़ी बोली के बीज दिखाई देते हैं। तत्कालीन जैन धर्म-ग्रंथों में खड़ी बोली का आदि रूप उपलब्ध होता है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन खड़ी बोली का विकास इससे भी पूर्व का मानते हैं अर्थात आठवीं शताब्दी में सिद्ध कवियों की रचनाओं में इन्होंने खड़ी बोली को माना है। लेकिन वास्तविक खड़ी बोली चौदहवीं शताब्दी में उत्पन्न हुई। प्रथम रचना अमीर खुसरो की पहेलियां-मुकरियां आदि मानी जा सकती हैं।

दुर्भाग्यवश बीच में यह विकास रुक गया, लेकिन धीरे-धीरे इसका विकास पुन: भारतेंदु काल में हुआ और आज यह पूर्ण यौवन पर है।

बोलने वालों की संख्या : इसके बोलने वालों की संख्या लगभग 1 करोड़ से अधिक है।

विशेषताएं : अवधी अकारांत या व्यंजनांत, ब्रजभाषा ओकारांत और खड़ी बोली आकारांत है जैसे-

अवधी : करत, होत, जात, होब, घोर, बड़, छोट, खोट आदि।

ब्रजभाषा : करतो, होतो, घोरो, बड़ो, छोटो, खोटो, छोरो, करैबो, करनो, लीनो आदि।

खड़ी बोली : करता, होता, जाता, किया, करना, होना, जाना, बड़ा, छोटा, घोड़ा, खोटा आदि।

4.2.5 पुरानी हिंदी का स्वरूप

अपभ्रंश

प्राकृत-कालीन जनभाषा के विकसित रूप को 500 ई. से 1000 ई. के बीच अपभ्रंश कहा जाता है। अर्थ की दृष्टि से विचार करें तो जैसा विचित्र और आश्चर्यजनक नाम अपभ्रंश का मिलता है वैसा किसी दूसरी भाषा का नहीं मिलता। अपभ्रंश नाम से एक दूसरी ही मन:स्थिति का बोध होता है। संस्कृत कोश ग्रंथों में अपभ्रंश का अर्थ 'बिगड़े हुए शब्दों वाली भाषा' अथवा 'बिगड़ा हुआ शब्द' ही दिया गया है। अपभ्रंश का प्राचीनतम प्रामाणिक प्रयोग पतंजलि (150 ई.पू. के लगभग) के 'महाभाष्य' में मिलता है। वैसे तो भर्तृहरि के वाक्यपदीय में शब्द प्रकृति अपभ्रंश है। वाक्यदीप, काण्ड 1, कारिका 148 का वार्तिक (ला.सं.पृ. 134) से भी ज्ञात होता है कि 'व्याडि' नाम के संग्रहकार ने भी अपभ्रंश शब्द का प्रयोग किया था। व्याडि का उल्लेख महाभाष्य में मिलता है। ये 'व्याडि' महाभाष्यकार पतंजलि से पहले हुए थे। अत: अपभ्रंश शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग उन्हीं के द्वारा किया गया मान सकते हैं लेकिन व्याडि का मूल ग्रंथ उपलब्ध न होने के कारण पतंजलि के अपभ्रंश विषयक कथन को ही प्रामाणिक माना जा सकता है।

आगे भरत द्वारा अपभ्रंश को आभीरोक्ति कहा गया। अपने नाट्यशास्त्र में भरत ने 'विभ्रष्ट' या 'प्रभ्रष्ट' शब्द का प्रयोग किया। यह लक्षण पतंजलि के 'अपशब्द' का ही प्रसार है। चंड द्वारा उनके ग्रंथ 'प्राकृत लक्षणम्' में 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग भाषा के अर्थ में किया गया। वलभी के राजा द्वितीय धारसेन ने इसी सदी के एक ताम्रलेख में अपने पिता गुहसेन की प्रशस्ति में लिखा है कि वे संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश की काव्य रचना में निपुण थे। भामह ने इसी सदी में अपभ्रंश को संस्कृत और प्राकृत के साथ एक काव्योपयोगी भाषा कहा है। आचार्य रुद्रट (9वीं शताब्दी) ने भी संस्कृत एवं प्राकृत के साथ ही अपभ्रंश को साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठा दी।

काव्य मीमांसाकार राजशेखर (10वीं सदी) के अनुसार यह सकल, मरु, टक्क और भादानक वासियों द्वारा बोली जाती थी। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के महान विद्वान हेमचंद्राचार्य ने अपने ग्रंथ 'सिद्ध-हेम शब्दानुशासन' के आठवें अध्याय में अपभ्रंश सूत्रों की व्याख्या दोहों के रूप में की है। इससे यह सिद्ध होता है कि इनके समय में अपभ्रंश विकास की अवस्था को ग्रहण करने लगी थी। ग्यारहवीं शती में प्राकृत वैयाकरण पुरुषोत्तम ने अपभ्रंश को शिष्ट वर्ग की भाषा माना। बारहवीं शती में हेमचंद्र ने अपभ्रंश का व्याकरण लिखा। इस प्रकार ईसा पूर्व दूसरी शती से बारहवीं शती तक अपभ्रंश का प्रयोग भिन्न-भिन्न कालों में 'अपशब्द, विभाषा, लोकभाषा, शिष्ट और साहित्यिक' भाषा के अर्थ में हुआ। प्राचीन और मध्यकालीन भाषाओं में अपभ्रंश ही एक ऐसी भाषा थी जो जनसाधारण की शक्ति से संबलित

होकर संस्कृत के पश्चात दूसरी सबसे लंबे काल तक साहित्य की भाषा बनी। इसे आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की जननी भी कहा जाता है।

अपभ्रंश का काल 500 ई. से 1000 ई. तक माना जाता है लेकिन कुछ लोगों ने इसका काल 600 से 1100 ई. तक और कुछ ने 1200 ई. तक इसका समय माना है। कुछ अन्य ने इसका काल 7वीं सदी से 13वीं सदी तक माना है। डॉ. सुकुमार सेन ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'A Comparative Grammar of Middle Indo Aryan' के नये संस्करण में अपभ्रंश का काल 1 ई. से 600 ई. तक माना है। छठी शती से चली आ रही काव्य भाषा-अपभ्रंश, लोकभाषा न रहकर साहित्य की रूढ़ भाषा बन गई। आचार्य हेमचंद्र पहले वैयाकरण हैं जिन्होंने इस काल में ग्राम्य भाषा और साहित्य रूढ़ अपभ्रंश का भेद किया। उनके द्वारा लिखित अपभ्रंश व्याकरण से भी बोलचाल की भाषा के विकास की पुष्टि होती है। छठी शती से 12वीं शती तक अपभ्रंश का काल मानने का एक तथ्य यह भी है कि ईसा की 13वीं शती से आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के ग्रंथ प्राप्त होने लगते हैं। अतः छठी से 12वीं शती तक के समय को ही अपभ्रंश का काल मानना उचित होगा।

ईसा की तीसरी शताब्दी से अपभ्रंश भाषा का काव्यार्थ प्रयोग माना जाता है। भामह और दंडी ने भी अपभ्रंश काव्य की चर्चा की है। साहित्य की दृष्टि से अपभ्रंश अंशों का प्रथम दर्शन कालिदास के 'विक्रमोर्वशीयम्' में होता है। इसे याकोबी तथा स.प. पंडित अप्रामाणिक मानते हैं किंतु डॉ. उपाध्ये एवं डॉ. तगारे आदि इसे प्रामाणिक मानते हैं। 'मृच्छकटिक' के टीकाकार पृथ्वीधर ने विभाषा को अपभ्रंश के अंतर्गत स्वीकार किया है। इस प्रकार चांडाली, शावरी, शाकारी और टक्की अपभ्रंश ही हैं। जर्मन भाषा में 'प्राकृत भाषाओं के व्याकरण' के लेखक पिशेल के समय तक अपभ्रंश के बहुत कम काव्य प्रकाश में आए थे। आठवीं सदी में स्वयंभू का महाकाव्य 'पउमचरिउ' लिखा जो रामचरित को प्रस्तुत करता है। स्वयंभू का दूसरा महाकाव्य 'रिट्ठेणमिचरिउ' है जिसका आधार हरिवंशपुराण और महाभारत है। स्वयंभू द्वारा छन्दों पर 'स्वयंभू छन्दस्' नामक एक ग्रंथ लिखा गया जिसमें प्राकृत और अपभ्रंश के 60 कवियों के उद्धरण दिए गए हैं। हेमचंद्र द्वारा लिखित अपभ्रंश व्याकरण के साथ ही अपभ्रंश रूढ़ बन गई थी। यह केवल साहित्यिक भाषा बनकर रह गई। दसवीं सदी में अस्तित्व में आने वाली भाषा जनसाधारण में लोकप्रिय होने लगी और बारहवीं सदी तक अपभ्रंश को पीछे धकेल, स्वयं साहित्यिक भाषा के पद पर आसीन हो गई। इस नई भाषा को 'अवहट्ट' कहा गया जो परवर्ती अपभ्रंश का रूप था।

अपभ्रंश की बोलियां और उनसे निकलने वाली आधुनिक भाषाएं

अपभ्रंश-बोलियां और उनसे निकलने वाली आधुनिक भाषाओं का वर्णन इस प्रकार है-

अपभ्रंश-बोलियां	**उनसे निकलने वाली आधुनिक भाषाएं**
1. शौरसेनी	(क) पश्चिमी हिन्दी
	(ख) इस अपभ्रंश के नागर रूप से-
	(अ) राजस्थानी
	(ब) गुजराती

	(ग) इस अपभ्रंश के पहाड़ी भागों में स्थित रूप से-पहाड़ी
2. पैशाची या केकय टक्क	(क) लहंदा
	(ख) पंजाबी (इस पर शौरसेनी अपभ्रंश का प्रभाव है)
3. ब्राचड,	सिंधी
4. महाराष्ट्री	मराठी
5. अर्धमागधी	पूर्वी हिन्दी
6. मागधी	(क) बिहारी
	(ख) बंगाली
	(ग) उड़िया
	(घ) असमिया

अपभ्रंश के कुछ प्रमुख रूप

शौरसेनी अपभ्रंश- शौरसेनी अपभ्रंश शौरसेनी प्राकृत का परिवर्ती रूप है। यह अपभ्रंश उत्तर में पहाड़ी बोलियों के क्षेत्र, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, कुछ पूर्वी पंजाब, मध्यप्रदेश के पश्चिमी भाग, राजस्थान एवं गुजरात में बोली जाती थी। इसी का परिनिष्ठित रूप तत्कालीन आर्यभाषी पूरे भारत की भाषा थी। अपभ्रंश साहित्य में इसी भाषा का प्रयोग हुआ है। इसे पश्चिमी अपभ्रंश, नागरिक अपभ्रंश, नागरिका या नागर अपभ्रंश भी कहते हैं। कभी-कभी नागरिक अपभ्रंश का प्रयोग शौरसेनी अपभ्रंश के गुजरात में प्रयुक्त रूप के लिए भी हुआ है। परमात्मप्रकाश, योगसार, पाहुड़ दोहा, सावयधम्म दोहा, भविस्सयत्तकहा, उपदेश-तरंगिणी, सनत्कुमारचरित तथा कुमारपाल-प्रतिबोध आदि इसकी प्रमुख साहित्यिक कृतियां हैं।

(1) प्राकृत-कल्पतरु के अनुसार इसका आधार महाराष्ट्री एवं शौरसेनी प्राकृत है।

(2) उसी के अनुसार इसमें असंयुक्त, अनादि क्, ख्, त्, थ्, क्रमशः ग्, घ्, द्, ध् हो जाते थे: नाक > णाग, सुख > सुघु, पतितु > पदिदु, शोथ > सोधु। किंतु 'सकल' जैसे कुछ शब्द महाराष्ट्री प्राकृत की तरह सअल आदि हो जाते हैं।

(3) प्राकृतानुशासन के अनुसार श्, ष् का स् हो जाता था : शोथ > सोधु।

(4) अंत्य स्वर ह्रस्व हो गया था-संध्या > सांझ।

(5) स्वर-संयोग के बीच य्, व्, ह् का आगम हो जाता था।

(6) स्वरमध्यग- म्- कभी-कभी-ब्- हो जाता था तथा परवर्ती स्वर अनुनासिक हो जाता था : कमल > कंवल।

(7) अंत्य - अ, इ-उ कभी-कभी अनुनासिक हो जाते थे।

(8) आदि अल्पप्राण स्पर्शों का अनेक शब्दों में महाप्राणीकरण हो गया था।

(9) -ई का स्त्री प्रत्यय तथा -आ का पुल्लिंग प्रत्यय के रूप में विकास हो चुका था।

(10) -डा, -डी, -उल्ल, उल्लि, -अ आदि कई प्रत्यय प्रयुक्त होते थे।

(11) अकारांत पु. प्रथमा एक. -अहः का -ओ (कभी-कभी -ए) तो मिलता ही है, साथ ही -उ एवं -अ भी मिलता है। देवः > देवा > देवु > देव। नपु. -अं तो था ही, पुल्लिंग के प्रभाव से नपुं. में -उ, -अ भी मिलता है।

(12) कुछ सर्वनामों में रूपों का आधिक्य है। समवेत रूप से रूप कम हो गए।

(13) वर्तमानकालिक कृदंत का प्रयोग तीनों कालों के लिए हो सकता था। कृदंत का प्रयोग बढ़ गया था।

(14) क्रिया-रूप कम हो गए थे।

व्राचड अपभ्रंश- पुरुषोत्तम के प्राकृतानुशासन के अनुसार इसमें ष्, स् का स्, त, थ का अस्पष्ट उच्चारण, तथा चवर्ग का तालव्यीकरण हो गया था। इसका स्थान सिंध के आसपास था।

उपनागर अपभ्रंश- पुरुषोत्तम द्वारा वैदर्भी, लाटी, औड्री, कैकेयी, गौडी, बर्बरी, कौतल, पांड्य तथा सिंहली का उल्लेख किया गया है। इनमें कैकेयी में प्रतिधवन्यात्मक शब्द, औड्री में इ, ओ के अधिक प्रयोग, लाटी में संबोधन के रूपों का आधिक्य तथा वैदर्भी में उल्ल प्रत्ययुक्त शब्दों के आधिक्य का उल्लेख है। टक्की को हरिश्चंद्र ने अपभ्रंश के अंतर्गत रखा है, यद्यपि पुरुषोत्तम इसे प्राकृत मानते हैं।

दक्षिणी अपभ्रंश- पुष्पदंत कृत महापुराण, जसहर चरिउ तथा मुनि कनकामर करकंडचरिउ की भाषा है। इसकी प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं:

(1) अन्य अपभ्रंशों में ष् का ख् या क्ख् हो जाता है, किंतु इसमें छ् हो जाता है।

(2) अकारांत पुल्लिंग का एकवचन तृतीया पश्चिमी में -एँ होता है, किंतु इसमें एण अर्थात् इसमें इस दृष्टि से विकास कम हुआ है।

(3) वर्तमान (उत्तमपुरुष एकवचन) में भी वही प्राचीनता दृष्टिगत होती है : पश्चिमी में -उँ, जबकि इसमें -मि। अन्य पुरुष बहुवचन में -न्ति (पश्चिमी में -हि)।

बहुत से लोग दक्षिणी अपभ्रंश का साहित्य में अस्तित्व नहीं मानते।

पूर्वी अपभ्रंश- यह सरहदपाद तथा कण्हपा के दोहाकोश और चर्यापदों की भाषा है। बंगाल, बिहार, असम, उड़ीसा इसका क्षेत्र था। इसकी प्रमुख विशेषताएं हैं-

(1) क्ष् > ख्, क्ख् (क्षण = खण, अक्षर = अक्खर)।

(2) व् > ब् (वेद > बेअ)।

(3) श् सुरक्षित है तथा स्, ष् दोनों ही श् हो गए हैं।

(4) प्रारंभ में महाप्राण प्रायः नहीं है।

(5) अनेक संज्ञाएं बिना विभक्ति के प्रयुक्त हुई हैं।

(6) लिंग का बंधन कम हो गया है।

(7) क्रियार्थक संज्ञा-इब से बनती थी, न कि पश्चिमी की तरह-अण से।

अपभ्रंश की भाषिक विशेषताएं

अपभ्रंश की कतिपय विशिष्टताएं निम्नांकित हैं–

(1) इसमें निम्नलिखित ध्वनियां थीं। **ह्रस्व स्वर**- अ, इ, उ, ए, ओ तथा **दीर्घ स्वर**- आ, ई, ऊ, ऐ, औ और ऋ। **व्यंजन**- कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, य, र, ल, व्, स, ह् ळ, ळह, म्ह, न्ह, ण्ह, ल्ह, रह्, ड़, ढ़। ए, ओ के लिए स्वतंत्र चिन्ह न होने से, इनके लिए प्रायः इ, उ का व्यवहार होता था। 'अ' का पूर्वी तथा पश्चिमी अपभ्रंशों में संवृत-विकृत का भेद था। ऋ का लिखने में प्रयोग था, किंतु उसका उच्चारण रि होता था। श का प्रचार केवल मागधी में था। ळ महाराष्ट्री में तो था ही, साथ ही उड़ीसा में बोली जाने वाली मागधी अपभ्रंश एवं गुजरात, राजस्थान, बांगड़ू, पहाड़ी में बोली जाने वाली शौरसेनी में भी था। इन क्षेत्रों में अब भी यह ध्वनि है। ळ्ह भी कहीं-कहीं था। म्ह आदि महाप्राण थे।

(2) ऋ को छोड़कर अन्य स्वरों का अनुनासिक रूप प्रयुक्त होने लगा था।

(3) संगीतात्मक स्वराघात समाप्त हो चुका था। बलात्मक स्वराघात विकसित हो चुका था।

(4) अपभ्रंश एक उकार-बहुला भाषा थी। वैसे तो 'ललितविस्तर' तथा 'प्राकृत धम्मपद' आदि ग्रंथों में भी यह प्रवृत्ति मिलती है, किंतु वहां यह प्रवृत्ति अपने बीज रूप में है। अपभ्रंश में यह बहुत अधिक है जहां से यह ब्रजभाषा या अवधी आदि को मिली है; जैसे एक्कु, कारणु, पियासु, अंग, मूलु और जगु आदि।

(5) ध्वनि-परिवर्तन की दृष्टि से जो प्रवृत्तियां (लोप, आगम, विपर्यय आदि) पालि में शुरू होकर प्राकृत में विकसित हुई थीं, उन्हीं का यहां आकर और विकास हो गया।

(6) शब्द के अंतिम स्वर के ह्रस्व होने की प्रवृत्ति प्राकृत में भी थी, किंतु अपभ्रंश में, जैसा कि ऊपर कहा गया है, बढ़ गई। अपभ्रंश की ध्वन्यात्मक विशेषताओं में प्रमुख होने के कारण यह उल्लेखनीय है। अन्त्य स्वर का यह ह्रस्वीकरण या कभी-कभी लोप स्वराघात के कारण हुआ है। जिस अंतिम स्वर पर स्वराघात होगा, उसका लोप या ह्रस्व रूप नहीं होता, किंतु जिस पर स्वराघात नहीं होता, उस पर बल कम होता जाता है। इस प्रकार उसका रूप ह्रस्व हो जाता है, या और आगे बढ़कर वह समाप्त हो जाता है। सं. गर्भिणी, प्रा. गब्भिणी, अप. गाब्भिणि। संस्कृत की तुलना में तो यह प्रवृत्ति अपभ्रंश में और भी मिलती है, जैसे हरीडइ (हरीतकी), संझ (संध्या), वरआत्त (वरयात्र) आदि।

(7) अपभ्रंश में स्वराघात प्रायः आद्यक्षर पर था, इसीलिए आद्यक्षर तथा उसका स्वर यहां प्रायः सुरक्षित मिलता है। जैसे माणिक्य-माणिक्क, घोटक-घेडअ, या घोड़ा आदि (संस्कृत की तुलना में)। प्राकृत की तुलना में छाहा (सं. छाया) से छाआ, आमलअ (सं. आमलक) से आवँलअ आदि है।

(8) म का वँ (प्रा. आमलअ, अप. आवँलअ, कमल-कवँल), ष्ण का न्ह (कृष्ण-कान्ह), क्ष का क्ख या च्छ (पक्षी-पक्खी, पच्छी), स्म का म्ह (अस्मै-अम्ह), य का ज

(युगल-जुगल) ड, द, न, र के स्थान पर 'ल' (प्रदीप्त-पलित आदि) आदि रूप में ध्वनि-विकास की बहुत-सी प्रवृत्तियां मिलती हैं।

(9) विशेषत: परवर्ती अपभ्रंश में समीकरण के कारण उत्पन्न द्वित्वता में एक व्यंजन बच गया है और पूर्ववर्ती स्वर में क्षतिपूरक-दीर्घीकरण हो गया है। (सं. तस्य, प्राय., तस्स, अप. तासु, कस्य, कस्सं, कासु, कर्म, कम्म, कामु)।

(10) पालि, प्राकृत में विकास तो हुआ था, किंतु सब कुछ ले-देकर वे संस्कृत की प्रवृत्ति से अलग नहीं थीं। अपभ्रंश पूर्णत: अलग हो गई और वह प्राचीन की अपेक्षा आधुनिक भारतीय भाषाओं की ओर अधिक झुकी है।

(11) भाषा में धातु और नाम दोनों के रूप कम हो गए इस प्रकार भाषा अधिक सरल हो गई।

(12) वैदिकी, संस्कृत, पालि तथा प्राकृत संयोगात्मक भाषाएं थीं। प्राकृत में वियोगात्मकता या अयोगात्मकता के लक्षण दिखाई पड़ने लगे थे, किंतु अपभ्रंश में आकर ये लक्षण प्रमुख हो गए, इतने प्रमुख कि संयोगात्मक और वियोगात्मक भाषाओं के संधिस्थल पर खड़ी अपभ्रंश भाषा वियोगात्मकता की ओर ही अधिक झुकी है।

(13) संज्ञा, सर्वनाम से कारक के रूप के लिए संयोगात्मक भाषाओं में केवल विभक्तियां लगती हैं जो जुड़ी होती हैं, किंतु वियोगात्मक में अलग से शब्द लगाने पड़ते हैं तो अलग रहते हैं। हिंदी में ने, को में, से आदि ऐसे ही अलग शब्द हैं। प्राकृत में इस तरह के दो-तीन शब्द मिलते हैं, किंतु अपभ्रंश में बहुत से कारकों के लिए अलग शब्द मिलते हैं। जैसे करण के लिए सहुँ, तण, संप्रदान के लिए केहि, रेसि, अपादान के लिए थिउ, होन्त, संबंध के लिए केरअ, कर, का, और अधिकरण के लिए महें, मज्झ आदि।

(14) ऊपर नाम-रूप थे और काल-रूपों के बारे में भी यही स्थिति है। संयोगात्मक भाषाओं में तिङ् प्रत्यय के योग से काल और क्रियार्थ की रचना होती है। वियोगात्मक में सहायक क्रिया के सहारे कृदंती रूपों से ये बातें प्रकट की जाती हैं। इस प्रकार की वियोगात्मक प्रवृत्तियां प्राकृत में अपनी झलक दिखाने लगी थीं, किंतु अब ये बातें बहुत स्पष्ट हो गईं। संयुक्त क्रिया का प्रयोग होने लगा। तिङन्त रूप कम रह गए।

(15) नपुंसक लिंग समाप्तप्राय हो गया लेकिन महाराष्ट्रीय एवं दक्षिणी शौरसेनी में इसका प्रयोग होता था।

(16) अकारांत पुल्लिंग प्रातिपदिकों की प्रमुखता हो गई। अन्य प्रकार के थोड़े-बहुत प्रातिपदिक थे भी तो उन पर इसी के नियम प्राय: लागू होते थे। इस प्रकार इस क्षेत्र में एकरूपता आ गई।

(17) कारकों के रूप कम हो गए जैसे संस्कृत में एक शब्द के लगभग 24 रूप होते थे, प्राकृत में उनकी संख्या लगभग 12 रह गई थी, अपभ्रंश में लगभग 6 रूप रह गए- दो वचनों और 3 कारकों- 1. कर्ता, कर्म, संबोधन, 2. करण, अधिकरण, 3. संप्रदान, अपादान, संबंध) के।

(18) स्वार्थिक प्रत्यय -ड का प्रयोग अधिक होने लगा। राजस्थानी आदि में इसका रूप -ड़, ड़ि-डिया आदि मिलता है।

(19) वाक्य में शब्दों के स्थान निश्चित हो गए।

(20) अपभ्रंश के शब्द-भंडार की प्रमुख विशेषताएं हैं-

(क) तद्भव शब्दों का अनुपात अपभ्रंश में सर्वाधिक है।

(ख) दूसरा नंबर देशज शब्दों का है। क्रियाओं में भी ये शब्द पर्याप्त हैं। ध्वनि और दृश्य के आधार पर बने नये शब्द भी अपभ्रंश में काफी हैं।

(ग) तत्सम शब्द अपभ्रंश के पूर्वार्द्ध-काल में तो बहुत ही कम हैं, किंतु उत्तरार्द्ध में उनकी संख्या काफी बढ़ गई है।

(घ) इस समय तक बाहर से भारत का पर्याप्त संपर्क हो गया था, इसी कारण उत्तरकालीन अपभ्रंश में कुछ विदेशी शब्द भी आ गए हैं, जैसे ठट्ठा (फा. तश्त), ठक्कुर (तुर्की तेगिन), नीक, तुर्क, तहसील, नौबति, हुद्दादार (फा. ओह्दादार) आदि।

(ङ) आस्ट्रिक एवं द्रविड़ के अनेक शब्द तो आत्मसात् ही कर लिए गए थे।

अवहट्ट या अवहट्ठ

अपभ्रंश और जनसाधारण की बोली का एक मिश्रित रूप, नई भाषा के निर्माण का कारण माना जाता है और यह नई भाषा परवर्ती अपभ्रंश अवहट्ट कहलाई। भाषा शास्त्रियों में अवहट्ट के विषय में मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वानों ने इसे मैथिल अपभ्रंश कहा, कुछ ने संक्रान्तिकालीन भाषा और कभी इसे पिंगल कहा गया। अवहट्ट का सर्वप्रथम प्रयोग ज्योतिरीश्वर ठाकुर के वर्णरत्नाकर (1325 ई.) में मिलता है। राजभाषाओं में जिन छह भाषाओं का वर्णन भाट करते हैं उनमें से एक भाषा अवहट्ट भी है। दूसरा प्रयोग विद्यापति की कीर्तिलता में हुआ। तीसरा प्रयोग प्राकृत पैंगलम् के टीकाकार वंशीधर ने किया। वे अवहट्ट को ही प्राकृत पैंगलम् की भाषा मानते हैं! चौथा प्रयोग संदेशरासक के कृतिकार अद्दहमाण द्वारा किया गया।

अवहट्ट परवर्ती अपभ्रंश का वह रूप है जिसके मूल में परिनिष्ठित अपभ्रंश यानी शौरसेनी है। व्यापक प्रचार के कारण इसमें कई रूप दिखाई पड़ते हैं। अवहट्ट भिन्न-भिन्न स्थानों की क्षेत्रीय भाषाओं से प्रभावित हुई है जैसे कि हर साहित्यिक भाषा होती है। अवहट्ट भाषा के समुचित शास्त्रीय अध्ययन के अभाव के कारण कुछ विद्वानों ने इसे मैथिल भ्रंश मान लिया। विद्वानों का विश्वास था कि अवहट्ट शब्द का पहला प्रयोग विद्यापति द्वारा अपनी रचना कीर्तिलता में किया गया और दूसरा प्रयोग ज्योतिरीश्वर ठाकुर द्वारा अपनी कृति वर्णरत्नाकार में किया गया। ये दोनों मैथिल कवि हैं इसलिए विद्वानों ने अवहट्ट को मैथिल अपभ्रंश कहा। कीर्तिलता के संपादक डॉ. बाबूराम सक्सेना ने कीर्तिलता की भाषा अवहट्ट को आधुनिक मैथिली और मध्यकालीन प्राकृत के बीच की कड़ी बताया है, दूसरी जगह उन्होंने कीर्तिलता के अपभ्रष्ट को मैथिली अपभ्रंश कहा है लेकिन अपने मत को उचित ठहराने के लिए उन्होंने कोई तर्क नहीं दिया।

अवहट्ट अपभ्रंश और आधुनिक भाषाओं के बीच की कड़ी तो है ही लेकिन इसे अपभ्रंश और आधुनिक भाषाओं की संधिकालीन भाषा कहना अधिक उचित होगा। अपभ्रंश अनुमानतः 1000 ई. के लगभग समाप्त हो गई थी, इसके उपरांत ही आधुनिक भाषाओं का आरंभ हुआ। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक है कि लगभग 900 से 1100 ई. या कुछ बाद तक की भाषा में अपभ्रंश एवं आधुनिक भाषाएं आपस में मिश्रित हुई होंगी। 900 से प्रायः 1000 ई. तक अपभ्रंश के अंशों का आधिक्य और आधुनिक भाषाओं के नए होने के कारण इनके अंश कम रहे होंगे। 1000 से 1100 या कुछ बाद तक अपभ्रंश के अंश धीरे-धीरे कम होते गए और आधुनिक भाषाओं के अंश बढ़ते गए। वैसे तो उसके बाद भी लगभग 13-14वीं सदी तक कुछ-न-कुछ अपभ्रंश-अंश मिलते हैं, किंतु बहुत कम मात्रा में हैं। इस प्रकार संधिकालीन अपभ्रंश या अवहट्ट भाषा का काल 900 ई. से 1100 ई. या कुछ बाद रहा होगा। वैसे तो साहित्य में 14वीं सदी तक इसका प्रयोग होता रहा है।

साहित्यिक अवहट्ठ का मूल रूप परिनिष्ठित पश्चिमी अपभ्रंश होते हुए भी जहां ग्रंथ रचा गया, वहां की भाषा का भी कुछ प्रभाव उस पर अवश्य पड़ा होगा। अवहट्ट साहित्य में प्रमुखतः संनेहरासक, उक्ति-व्यक्ति प्रकरण, वर्णरत्नाकर तथा कीर्तिलता आदि हैं लेकिन कुछ लोग ज्ञानेश्वरी, राउलवेलि आदि को भी इसके अंतर्गत रखते हैं। डॉ. हीरालाल जैन तथा डॉ. बाबूराम सक्सेना ने अवहट्ठ तथा देशी को एक ही माना है, किंतु ब्लॉख, पिशेल आदि वैयाकरण दोनों को अलग-अलग मानते हैं। वस्तुतः देशी या देसी शब्द का प्रयोग समय-समय पर प्राकृत एवं अपभ्रंश के लिए होता रहा है और अवहट्ट जब बोली जा रही थी तो उसके लिए भी इसका प्रयोग हुआ। इस प्रकार अवहट्ट-काल में देशी का प्रयोग उसी के लिए हुआ है, किसी अन्य के लिए नहीं।

अवहट्ट की प्रमुख विशेषताएं ये हैं-

- अवहट्ट और अपभ्रंश में ध्वनि विचार की दृष्टि से कोई बहुत महत्वपूर्ण अंतर नहीं दिखाई पड़ता। अवहट्ठ में वे सभी ध्वनियां थीं जो अपभ्रंश में थीं। साथ ही उनके अतिरिक्त ऐ, औ दो नई ध्वनियों का विकास हो गया है। ह्रस्व ए, ओ का प्रयोग कम हो गया। ऋ का प्रयोग लेखन में है, किंतु उच्चारण में यह रि थी। संस्कृत के तत्सम शब्दों के आने पर श् ध्वनि का प्रसार और अन्य क्षेत्रों में भी हुआ। ष् केवल लेखन में ही था परंतु उच्चारण में यह श् ही था।
- क्षतिपूरक दीर्घीकरण-व्यंजन-द्वित्व के स्थल पर एक व्यंजन हो जाता है, अतः उस व्यंजन की अनुपस्थिति के कारण हुई मात्रिक क्षति की पूर्ति के लिए पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ हो जाता है।
- स्वर-संयोगों के मिलकर एक हो जाने की सामान्य प्रवृत्ति पाई जाती है।
- अकारण अनुनासिकता भी मिलती है।
- अकारांत प्रथमा एकवचन (पुल्लिंग) का- अः तथा नपुंसक लिंग -अम्- इन दोनों ही के स्थान पर -उ या -अ मिलता है। पुल्लिंग -अः का ओ और -ओ का -उ हो गया। इस पुल्लिंग का ही प्रभाव नपुंसक लिंग पर पड़ा और वह भी -उ हो गया। अंत में -उ निर्बल होकर -अ रह गया।

- पुल्लिंग एवं स्त्रीलिंग में भी काफी रूप समान हो गए।
- संयुक्त क्रिया का प्रयोग होने लगा।
- परंपरा रूप से तद्भव शब्द अधिक प्रयोग में आते रहे और तत्सम शब्द भी काफी प्रयुक्त होने लगे। इसमें अरबी, फारसी, तुर्की के शब्द भी काफी मात्रा में प्रवेश कर गए।

पुरानी हिंदी

अपभ्रंश को कई विद्वानों ने पुरानी हिंदी माना है। राहुल सांकृत्यायन, चंद्रधर शर्मा गुलेरी और आचार्य रामचंद्र शुक्ल अपभ्रंश को पुरानी हिंदी मानते हुए इसे हिंदी साहित्य के इतिहास का अनिवार्य अंग मानते हैं। चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने सन् 1921 में नागरी प्रचारिणी पत्रिका में 'युगीन हिंदी' शीर्षक से एक लेखमाला प्रारंभ की थी। उनका कहना था- "विक्रम की 7वीं शताब्दी से 11वीं शताब्दी तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और फिर वह पुरानी हिंदी में परिणत हो गई। विभक्तियां घिस गई हैं, खिर गई हैं, एक ही विभक्ति है वह और कई काम देने लगी हैं। एक कारक की विभक्ति से दूसरे का भी काम चलने लगा है।" आगे चलकर वे पुनः कहते हैं- "पुरानी अपभ्रंश संस्कृत और प्राकृत से मिलती है और पिछली पुरानी हिंदी से।" गुलेरी जी अपभ्रंश को स्पष्टतः दो भागों में बांट देते हैं- पुरानी अपभ्रंश और परवर्ती अपभ्रंश। बाद में चलकर इस परवर्ती अपभ्रंश को हिंदी साहित्य के इतिहास में सम्मिलित किया जाने लगा।

रामचंद्र शुक्ल अपने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में गुलेरी जी की तरह अपभ्रंश को पुरानी हिंदी कहते हैं। इतिहास के प्रथम संस्करण की भूमिका में वे लिखते हैं- "आदिकाल के भीतर अपभ्रंश की रचनाएं भी ले ली गई हैं क्योंकि वे सदा से भाषाकाव्य के अंतर्गत ही मानी जाती रही हैं।" वे अपभ्रंश को 'अपभ्रंश' या 'पुरानी हिंदी' अथवा 'प्राकृताभास (प्राकृत की रूढ़ियों से बहुत कुछ बद्ध) हिंदी' कहते हैं।

अपभ्रंश को लेकर शुक्ल जी के इतिहास में एक रोचक अंतर्विरोध मिलता है। वे एक ओर अपभ्रंश या पुरानी हिंदी का प्रचार भोज और मुंज के समय (1050 सं.) में पाते हैं तो दूसरी ओर वे बौद्ध सिद्धों की भाषा को भी पुरानी हिंदी मानते हैं। "सिद्धों की उद्धृत रचनाओं की भाषा देशभाषामिश्रित अपभ्रंश अर्थात पुरानी हिंदी की काव्यभाषा है।" इस संदर्भ में वे विशेष रूप से सिद्ध कण्हपा का नाम लेते हैं।

राहुल जी 'काव्यधारा' (1945) में लिखते हैं कि पूरा अपभ्रंश साहित्य पुरानी हिंदी है। उनके यहां पूर्ववर्ती और परवर्ती अपभ्रंश का झमेला नहीं है। वे अपभ्रंश को संस्कृत और प्राकृत से भिन्न जाति की भाषा मानते हैं।

हजारी प्रसाद द्विवेदी अपभ्रंश को पुरानी हिंदी मानने के पक्ष में नहीं हैं। उनका कहना है-"अपभ्रंश को अब कोई पुरानी हिंदी नहीं कहता।" 1000 ईस्वी से लेकर 1400 ईस्वी की रचनाओं को वे आदिकाल के अंतर्गत मानते हैं। इस काल में उपलब्ध रचनाओं को उन्होंने दो श्रेणियों में बांटा है- 1. जैन प्रभावापन्न परिनिष्ठत साहित्यिक अपभ्रंश की रचनाएं, 2. मूल रूप से अत्यंत भिन्न बनी हुई लोकभाषा की रचनाएं। प्रथम श्रेणी में हेमचंद्र

के व्याकरण, मेरुतुंग के 'प्रबंध चिंतामणि' आदि के दोहे, और अब्दुल रहमान का 'संदेशरासक' तथा 'प्राकृत पैंगलम्' में उदाहरित लोकभाषा के छन्द। दूसरी श्रेणी में रासो काव्य की गणना की गयी है। लोकभाषा के साहित्य को वे अपभ्रंश से थोड़ी भिन्न भाषा का साहित्य कहते हैं। लोकभाषा में प्राप्त साहित्य की भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश की भाषा से कुछ आगे बढ़ी हुई दिखाई देती है।

प्राकृत अपभ्रंश का महत्व हिंदी भाषा के लिए नकारा नहीं जा सकता। प्राकृत भाषा और साहित्य का प्रभाव देश के एक बड़े भू-भाग को आच्छादित किए हुए था। प्राकृत और अपभ्रंश को संस्कृत की अपेक्षा मधुर कहा गया है। इसे झुठलाने का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है।

अपभ्रंश साहित्य में सातवीं शताब्दी में बोलचाल की भाषा का हस्तक्षेप होने लगा था। यद्यपि अपभ्रंश का व्याकरण बहुत कुछ प्राकृत व्याकरण है पर उन पर बोलचाल की भाषा के क्रियापदों, विभक्तियों, परसर्गों का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। इनके माध्यम से ब्रजी, अवधी, मैथिली, खड़ी बोली, भोजपुरी के पूर्वरूप की एक झलक मिल सकती है। अपभ्रंश में विभिन्न काव्यरूपों, कथानक-रूढ़ियों आदि को सीधे लोक से लिया गया है- न प्राकृत से, न संस्कृत से। इसलिए हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथ में अपभ्रंश साहित्य का अध्ययन अनिवार्य है। अपभ्रंश साहित्य हिंदी साहित्य का समृद्ध रिक्थ है।

पुरानी हिंदी की विशेषताएं

पुरानी हिंदी का समय 1000 ई. से 1500 ई. तक माना जाता है। यह अपभ्रंश के काफी निकट थी क्योंकि उसी से (या उसके परवर्ती रूप अवहट्ट से) हिंदी का उदय हुआ था। आदिकालीन हिंदी में मुख्यत: उन्हीं ध्वनियों का प्रयोग मिलता है जो अपभ्रंश में प्रयुक्त होती थीं। पुरानी हिंदी की प्रमुख विशेषताएं हैं–

1. अपभ्रंश में केवल आठ स्वर थे- अ आ इ ई उ ऊ ए ओ। ये आठों ही स्वर मूल स्वर थे। आदिकालीन हिंदी में ये दो नये स्वर ऐ औ विकसित हो गए जो संयुक्त स्वर थे तथा जिनका उच्चारण क्रमश: अएँ, अऔ था।
2. च, छ, ज, झ संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश में स्पर्श व्यंजन थे किंतु पुरानी हिंदी में आकर ये स्पर्श संघर्षी हो गए और तब से ये स्पर्श संघर्षी ही रहे।
3. इसी तरह न र ल स दन्त्य से वर्त्स्य हो गए।
4. अपभ्रंश में ड़ ढ़ व्यंजन नहीं थे। आदिकालीन हिंदी में इनका विकास हुआ।
5. न्ह, म्ह, ल्ह पहले संयुक्त व्यंजन से अब ये न य ल के महाप्रण रूप, अत: मूल व्यंजन हो गए।

   - संयोग में पंचम वर्ण के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग होने लगा।
6. संस्कृत, फारसी आदि के कुछ शब्दों के आ जाने के कारण कुछ नये संयुक्त व्यंजन हिंदी में आ गए जो अपभ्रंश में नहीं थे। कुछ अपभ्रंश शब्दों के लोप के कारण कुछ ऐसे संयुक्त व्यंजनों, स्वरानुक्रमों तथा व्यंजनानुक्रमों के लोप की भी संभावना हो सकती है जो अपभ्रंश में थे।

व्याकरण की दृष्टि से देखें तो धीरे-धीरे अपभ्रंश के व्याकरणिक रूप कम होते गए और हिंदी के अपने रूप विकसित होते गए। 1500 ई. तक आते-आते हिंदी अपने पैरों पर खड़ी हो गई और अपभ्रंश के रूप प्रायः प्रयोग से निकल गए।

पुरानी हिंदी का व्याकरण समवेततः अपभ्रंश व्याकरण से इन बातों में भिन्न है-

1. अपभ्रंश काफी हद तक संयोगात्मक भाषा थी। क्रिया तथा कारकीय रूप संयोगात्मक होते थे किंतु पुरानी हिंदी में नियोगात्मक रूपों का प्राधान्य हो चला। सहायक क्रियाओं, संयुक्त क्रियाओं तथा परसर्गों (कारक चिह्नों) का प्रयोग काफी होने लगा।
2. नपुंसक लिंग एक सीमा तक अपभ्रंश में रह गया था। पुरानी हिंदी में यह पूर्णतः समाप्त हो गया। दो लिंग दो वचन।
3. हिंदी वाक्य रचना में शब्द क्रम- कर्ता, कर्म, क्रिया- धीरे-धीरे निश्चित होने लगा था।

पुरानी हिंदी का शब्द भंडार अपने आरंभिक चरण में अपभ्रंश का ही था, किंतु धीरे-धीरे कुछ परिवर्तन आते गए जिनमें प्रमुख निम्नांकित हैं-

1. भक्ति आंदोलन का प्रारंभ हो गया था अतः तत्सम शब्दावली अपभ्रंश की तुलना में बढ़ने लगी थी।
2. मुसलमानों के आगमन से कुछ शब्द पश्तो, फ़ारसी और तुर्की भाषाओं से हिंदी में आए।
3. भक्ति आंदोलन तथा मुसलमानी शासन का प्रभाव समाज पर भी पड़ा जिसके परिणामस्वरूप इस बात की भी संभावना है कि कुछ ऐसे पुराने शब्द, जो अपभ्रंश में प्रचलित थे, इस काल में अनावश्यक या अल्पावश्यक होने के कारण या तो हिंदी शब्द भंडार से निकल गए या फिर उनका प्रयोग बहुत कम हो गया।

इस काल के साहित्य में प्रमुखतः डिंगल, मैथिली, दक्खिनी, अवधी, ब्रज तथा मिश्रित रूपों का प्रयोग मिलता है। इस युग के प्रमुख हिंदी साहित्यकार गोरखनाथ, विद्यापति, नरपति नाल्ह, चन्दबरदाई, कबीर आदि हैं।

आरंभिक हिंदी

आरंभिक हिंदी 11वीं शती ईस्वी के आसपास परवर्ती अपभ्रंश से विकसित है। यह उस समय की समस्त मध्यदेशीय बोलियों के लिए एक सामान्य संज्ञा या सामूहिक नाम है। राउल वेल के आधार पर इसकी प्रमुख विशेषताओं का निरूपण किया जा सकता है।

ध्वनि- ङ, ञ ड़ ढ़ नई विकसित ध्वनियां हैं।

ध्वनि परिवर्तन-

1. अन्त्य स्वर का लोप- अग्नि > अग्गि > आग, जिब्भा > जीभ
2. क्षतिपूरक दीर्घीकरण- पश्चात > पच्छा > पाछै, पुत्र > पुत्त > पूत

3. स्वर हस्वीकरण, दीर्घकाय तथा विपर्यय की भी प्रवृत्ति मिलती है- आनंद > अनंद, मनुष्य > मानुष, दिवस > देवस, कपाट > किवाड़

4. ऋ के स्थान पर रि अ ठ इ ई आदि कई ध्वनियां आ गई थीं। ऋतु > रितु, वृद्ध > बुड्ढो

5. मध्यम अल्पप्राण व्यंजनों के लोप की प्रवृत्ति तीव्र हुई। कोकिल > कोइल, राजा > राइ। अत: तत्समों का व्यवहार बढ़ा है।

6. मध्यम महाप्राण के स्थान पर ह की अत्यधिक प्रवृत्ति देखी जाती है। मेघ > मेह, दधि > दहि।

7. अनुनासिक व्यंजनों से संयोग वाले स्थलों पर अनुनासिक की जगह अनुस्वार- पण्डित > पंडित, खम्भ > खंभ।

8. र ल में अभेद सरिता > सलिला, सकाले > सकारे।

9. पूर्व में ण का न- पुण्य > पुन्न, अख्य > अरन्त पश्चिम में ण अत्यधिक न के स्थान पर थी ण सुत्रण, तिण, जाणउ।

10. क्ष का पूर्व में छ तथा पश्चिम में ख हो गया है- लक्ष्मण > लछिमन > लखन।

रूप रचना-आरंभिक हिंदी में वियोगात्मक प्रक्रिया आगे बढ़ी है। नये-नये व्याकरणिक प्रत्यय विशेषत: परसर्ग और कृदंतीय रूप विकसित हुए हैं।

1. दो लिंग और दो वचन। संज्ञा और विशेषण में उकारांत प्राय: पुल्लिग तथा इकारांत प्राय: स्त्रीलिंग है। धर्मु, कारणु पुल्लिग है। जुगति राति स्त्रीलिंग हैं।

2. बहुत थोड़े सविभक्तिक प्रयोग मिलते हैं। हि ऐसा विभक्ति चिह्न है जो सभी कारकों के अर्थ देता है-

   कर्म- सतरूपहि बिलोकि

   संप्रदान- वरहि कन्या दे

   इसके अतिरिक्त न, न्ह, नि, न्हि भी सभी कारकों के लिए प्रयुक्त। साथ ही कारक के लिए ऐ अधिकरण के लिए ए विभक्ति चिह्न शेष है।

3. निर्विभक्तिक प्रयोग खूब मिलते हैं अर्थात जिनमें परसर्ग है न विभक्ति चिह्न-

   चेरी धाई, विरह तपाइ तपाइ, बासन फोरे

4. नये-नये परसर्ग विकसित हुए हैं। उदाहरणार्थ-

   कर्म के लिए- कहं कह कौ को कों कूँ

   संप्रदान के लिए- लागि लगा तण तई

5. सर्वनामों के केवल चार रूप सामान्य एक वचन, बहुवचन और तिर्यक एक वचन बहुवचन। मैं के बजाय हों का प्रयोग व्यापक है।

6. हिंदी का विकास अलग-अलग केंद्रों में हुआ। अत: इसमें एक क्रिया रूप के एक ही वचन पुरुष तथा काल में विविध प्रयोग प्रचलित दिखाई पड़ते हैं।

7. अपभ्रंश के विध्यर्थ करिज्जइ, पढिज्जइ अवहट्ट की भांति आरंभिक हिंदी में भी करीजै पढ़ी जै रूप में प्रयुक्त होते हैं।

8. क्रिया के कृदंतीय रूपों का खूब विकास हुआ। वर्तमान कालिक कृदंत त तथा भूतकालिक कृदंत इया ने काल रचना को सरल कर दिया।

9. संयुक्त क्रियाओं का भरपूर विकास हुआ और उनमें नयी अर्थवत्ता विकसित हुई।

   आया से आ गया, आ बैठा, आ चुका, आ मरा

   करना से कर लिया, कर दिया, कर छोड़ा, कर पाया

10. आरंभिक हिंदी में सहायक क्रियाओं में अभूतपूर्व वृद्धि लेकिन अधिकांश अवहट्ट की सहायक क्रियाओं के समरूप हैं। भूतकालिक हुतो, हुत, था, थे आदि आरंभिक हिंदी की अपनी सहायक क्रियाएं हैं।

11. उकारांत, आकारांत विशेषणों का स्त्रीलिंग रूप ईकारांत और पुल्लिग बहुवचन ऐकारांत हो जाता है- गाढ़ी, तीखी, तीखे, ऊंचे।

वाक्य विन्यास- लुप्त विभक्तिक पदों के प्रयोग के कारण अवहट्ट की भांति ही कर्ता क्रिया कर्म के क्रमिक पदस्थान की महत्ता बरकरार है।

शब्द भंडार- हिंदी में लगातार तत्सम शब्द बढ़ते गए। बढ़ते हुए विदेशी प्रभाव के कारण अपभ्रंश और हिंदी में शब्द समूह के स्तर पर महत्वपूर्ण अंतर है।

हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योगदान

भाषिक योगदान

(अ) ध्वनिगत- अपभ्रंश ने ध्वनि परिवर्तन द्वारा संस्कृत, प्राकृत शब्द के हिंदीकरण में महत्वपूर्ण योगदान किया-

1. क्षतिपूरक दीर्घीकरण - अग्नि > अग्गि > आग
   उष्ट्र > उट्ठ > ऊंट
2. अंत्यस्वर का ह्रस्वीकरण तथा लोप - जिह्वा > जिब्या > जीभ
   घृणा > घिन
   दूर्वा > दूध
3. पंचमाक्षर के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग-
   दण्ड > दंड
   अङ्क > अंक
   पञ्च > पंच
4. मध्यम महाप्राण ध्वनियों के स्थान पर ह का प्रयोग-
   आखेट > अहेर
   गर्दभ > गदहा
   बधिर > बहिरा

5. मध्यम अल्पप्राण व्यंजनों के लोप से स्वर गुच्छों की संख्या बढ़ी। अपभ्रंश या अवहट्ट में यह प्रवृत्ति पाई कि या तो स्वर गुच्छों का संकोच हुआ या तत्सम शब्द को पुनरुज्जीवित किया गया या बीच में य श्रुति लाई गई।

पिअ > प्रिय

काअर > कायर

गत > गअ > गय (य ध्वनि का प्रयोग)

गज > गअ > गज (तत्सम पुनरुज्जीवन)

साअर > सागर (तत्सम पुनरुज्जीवन)

निअ > निज (तत्सम पुनरुज्जीवन)

नअर > नायर (तत्सम पुनरुज्जीवन)

स्वर संकोच – तउ > तो

जइसइ > जैसा

कहउ > कहूँ

(ब) रूप रचना

1. दो लिंग और दो वचन।
2. विश्लेषणात्मकता अर्थात परसर्गों का उदय हुआ। कुछ परामर्श अपभ्रंश में ही उदित हुए जो थोड़े बहुत घिसकर हिंदी में आ गए। कुछ परसर्ग निरंतर उदित हुए। अपभ्रंश, अवहट्ट में प्रयुक्त परसर्गों में से- को, से, का, के, की, में, पर हिंदी में आए। 'न' का विकास अपभ्रंश 'टणे' या अवहट्ट 'सणे' से हुआ है।
3. उ, हि, हिं आदि अपभ्रंश से हिंदी में आए।
4. सर्वनाम और विशेषण भी काफी कुछ अपभ्रंश से हिंदी में आए हैं।
5. क्रिया के रूप हूबहू हिंदी के तो नहीं हैं, उन पर अपभ्रंश का प्रभाव रहा है।
6. सबसे महत्वपूर्ण बात क्रिया की रचना में कृतदंत पद रूपों का विकास था जो अपभ्रंश और अवहट्ट में हुआ। वर्तमान कालिक कृदंत 'त' एवं भूतकालिक कृदंत 'इआ' ने काल रचना को स्पष्ट कर दिया। अवहट्ट में छिटपुट 'ग' आने लगा था। इससे गा, गी, गे बने।
7. संयुक्त क्रियाओं का विकास 'आ गया', आ बैठा, कर लिया, कर चुका, हो गया।

शब्द भंडार

अपभ्रंश काल में तत्सम शब्दों का पुनरुज्जीवन, विदेशी शब्दावली का ग्रहण, देशी शब्दों का प्रयोग द्रुत गति से बढ़ा, जिससे हिंदी का शब्द भंडार समृद्ध हुआ।

साहित्यिक योगदान

अपभ्रंश साहित्य विविधतापूर्ण था। इसके अंतर्गत रासो काव्य, प्रेमाख्यानक काव्य और खंड काव्य; रूपक रचनाएं; स्फुट रचनाएं (जैसे- बारहमासा, फागु, दोहा, चउपई); सिद्धों के

चर्यापद और नाथों की वाणियां आदि का सृजन हुआ। इन सबका प्रभाव हिंदी साहित्य पर पड़ा है। उदाहरणार्थ- 'संदेश रासक' एक खंड काव्य है। सिद्धों की परंपरा को संत साहित्य ने आगे बढ़ाया। सिद्धों की ही तरह हठयोग, धार्मिक और नैतिक उपदेश आदि संत साहित्य में मिलते हैं। दोहा-पदों का प्रयोग भी मिलता है। प्रेमाख्यानों का प्रभाव निर्गुण प्रेममार्गी शाखा पर देखा जा सकता है।

अतिलौकिक तथा धार्मिक तत्वों से अनुरंजित कथानायक का जीवन चरित; नायक-नायिका के प्रेम व्यापारों का चित्रण; रूपदर्शन, चित्रदर्शन या श्रव्य आदि से प्रेमोत्पत्ति; विरह में अतिशय व्याकुलता; प्राप्ति का उपाय; असाधारण घटनाओं का घटित होना; एक बार मिलना; पुन: वियोग; अंत में सभी विघ्न बाधाओं को परास्त कर लक्ष्य प्राप्ति आदि संपन्नताएं दोनों में द्रष्टव्य हैं। काव्य रूढ़ियों तथा काव्य रूप की दृष्टि से इनमें काफी समानता है। चरित काव्यों का प्रभाव रामचरितमानसकार ने स्वयं ही स्वीकार किया है। पुष्पदंत द्वारा 'महापुराण' में वर्णित नटखट कृष्ण की बाल लीलाएं कृष्ण भक्ति साहित्य में पल्लवित हुई हैं। आदि काल की भक्ति काल पर गहरी छाप है। यदि नये-नये उपमानों, नखशिख वर्णनों, नायकों के सौंदर्य चित्रण, छन्द, अलंकार योजना पर गहराई से विचार करें तो स्पष्ट हो जाएगा कि रीतिकाल तक उसका प्रभाव जारी रहा है।

समग्रत: हिंदी के मूल उत्सों में से अपभ्रंश साहित्य एक है। भावधारा की दृष्टि से उसका ऐतिहासिक संबंध है। छन्दों और काव्य रूपों की भी गहरी छाप है।

हिंदी भाषाओं के कई नाम गिनाए गए हैं- देहलवी, बंगाली, मुलतानी, मारवाड़ी, गुजराती, तिलंगी, मरहट्ठी, कर्नाटकी, सिंधी, अफगानी, बिलोचिस्तानी और कश्मीरी (अबुल फजल) इसके पश्चात 'हिंदी' शब्द के ऐतिहासिक विकास का एक लंबा इतिहास मिलता है। आज भाषा-प्रसंग में 'हिंदी' का प्रयोग तीन अर्थों में किया जाता है।

(1) विशिष्ट,

(2) सामान्य, तथा

(3) भाषा-शास्त्रीय।

विशिष्ट अर्थ में नागरी हिंदी को ही हिंदी कहते हैं। इसे हम खड़ी बोली का परिमार्जित स्वरूप कह सकते हैं। भारतीय संविधान में 'हिंदी' का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है और यही भारतीय संघ की राजभाषा घोषित की गई है। यहां हम इसी राजभाषा के अर्थ में ही 'हिंदी' शब्द का प्रयोग कर रहे हैं।

आज हम जिस अर्थ में 'हिंदी' शब्द का प्रयोग कर रहे हैं, उस भाषा का क्षेत्र पर्याप्त व्यापक है। ग्रियर्सन ने अंबाला (पंजाब) से लेकर बनारस तक और नैनीताल की तलहटी से लेकर बालाघाट (मध्यप्रदेश) तक की बोलियों को 'हिंदी' कहा है। उन्होंने इसके दो भाग कर दिए हैं, अर्थात पश्चिमी हिंदी और पूर्वी 'हिंदी'। यह सब उन्होंने ऐतिहासिक आधार पर निश्चित किया है। पश्चिमी हिंदी का विकास शौरसेनी से और पूर्वी हिंदी का अर्ध मागधी से माना। किंतु इस विषय में डॉ. हरदेव बाहरी का कहना है, "वास्तव में पूर्वी हिंदी पश्चिमी हिंदी से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। अवधी और बुंदेली अथवा अवधी और कन्नौजी की तुलना

करके देखने पर पता चलता है कि भरत मुनि ने ठीक ही कहा था, 'शौरसेन्याऽविदुरत्वात् इयमेवाअर्धामागधी'।" लगता है कि ग्रियर्सन शौरसेनी की उत्तराधिकारिणी को ही हिंदी मानना चाहते हैं। इसी आधार पर वे राजस्थानी, बिहारी और मध्य पहाड़ी को अलग-अलग और हिंदी से भिन्न भाषाएं कहते हैं। वे हिंदी के विकास को नहीं देख पाए। दरअसल प्राकृत काल में उतार-चढ़ाव आते रहे हैं। धार्मिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक और राजनीतिक परिस्थितियों ने हिंदी को एक बहुत बड़े क्षेत्र में व्याप्त होने का अवसर दिया है। इसका प्रमाण उन प्रांतों के लोगों की अपनी मान्यता है। डॉ. उदयनारायण तिवारी ने भी भोजपुरी को हिंदी क्षेत्र से बाहर की माना है। मैथिल साहित्य के लेखक इतिहासकार डॉ. जयकांत मिश्र ने भोजपुरी को हिंदी क्षेत्र के भीतर और मैथिली को उसके बाहर रखा है। एक चमत्कार उन्होंने यह किया कि भोजपुरी को मैथिली की बोली घोषित किया।

किंतु विभिन्न तर्कों के आधार पर डॉ. रामविलास शर्मा ने सिद्ध किया है कि वर्तमान काल में भोजपुरी, मैथिली आदि हिंदी की बोलियां मात्र रह गई हैं। डॉ. बाहरी का भी इस विषय में स्पष्ट मत है कि बिहार और राजस्थान प्रांतों में बोलियां तो अवश्य हैं, किंतु बिहारी, राजस्थानी अथवा पहाड़ी, नाम की कोई 'भाषाएं' नहीं हैं, कोई अपनी लिपि नहीं, साहित्य की कोई अपनी परंपरा नहीं, शासन द्वारा कोई मान्यता प्राप्त नहीं। अपनी पुस्तक 'राजस्थानी भाषा' में चटर्जी ने राजस्थानी को हिंदी भाषा कहा है। कोलकाता में लोग राजस्थानी को 'मारवाड़ी हिंदी' कहते हैं और मुंबई या पंजाब में बिहारी हिंदी या पूर्वी प्रचलित नाम है। पहाड़ी के बारे में स्वतः ग्रियर्सन ने कबूल किया है कि पहाड़ी नाम की कोई एक भाषा नहीं है, सुविधा के लिए यह नाम दिया गया है। डॉ. भगीरथ मिश्र सुझाव देते हैं कि बिहार की बोलियों की इकाई को बिहारी हिंदी, राजस्थान की बोलियों की इकाई को राजस्थानी हिंदी और गढ़वाली कुमाऊंनी को पहाड़ी हिंदी कहना अधिक समीचीन है। जिसे हम हिंदी कहते हैं वह वास्तव में पांच उपभाषाओं का समूह है- पूर्वी हिंदी, पश्चिमी हिंदी, बिहारी हिंदी, राजस्थानी हिंदी तथा पहाड़ी हिंदी।

पश्चिमी हिंदी की ही एक शाखा दक्षिण में जा लगी है जिसे दक्खिनी हिंदी कहते हैं। इससे प्राचीन काल में भाषा की विभिन्नता, किंतु वर्तमान समय में विस्तृत हिंदी क्षेत्र की एकता और लोकमान्यता का परिचय भी अपने-आप प्राप्त हो जाता है और साथ ही इस वर्गीकरण के द्वारा हम इन उपभाषाओं को हिंदी के अंतर्गत एक बहुत ऊंचा पद दे सकते हैं। संविधान ने तो इस सारे क्षेत्र की एक ही भाषा हिंदी स्वीकृत की।

हिंदी भाषा के नामकरण का प्रश्न

हिंदी शब्द की उत्पत्ति का संबंध भारत के उत्तर-पश्चिम में बहने वाली सिंधु नदी से माना जाता है। अधिकतर आक्रमणकारी और यात्रियों ने उत्तर-पश्चिम सिंहद्वार से ही भारत में प्रवेश किया था। ईरान और भारत के आपसी संबंध प्राचीन काल से ही थे। इरानियों द्वारा 'सिंधु' को 'हिंदू' कहा जाता था। 'हिंदू' शब्द संस्कृत के शब्द 'सिंधु' का ही विकसित रूप है। 'हिंदू' शब्द से 'हिंद' शब्द बना और इसमें फारसी भाषा का संबंधकारक प्रत्यय 'ई' जोड़ने (हिंद + ई) से 'हिंदी' शब्द बन गया। हिंदी से तात्पर्य है-हिंद का। हिंद देश के निवासियों के लिए हिंदी शब्द का प्रयोग प्रचलित हुआ जिसे आगे चलकर 'हिंदी की भाषा' के अर्थ के रूप में प्रयोग किया जाने लगा।

भारतीय समाज में 'नाम' की बहुत महिमा है। हिंदी भाषा भी इसका अपवाद नहीं है। हिंदी जिस भाषा परिवार की भाषा मानी जाती है, उस परिवार का नाम 'भारतीय आर्य भाषा' परिवार रखा गया है। आर्य भाषा से गौरव-बोध अवश्य होता है। आर्यों की निवास भूमि यूरोप या यूरोपेशिया के बीच कैस्पियन सागर के आस-पास कहीं मानी जाती है। वहां से उनका एक दल पश्चिम की ओर गया, जिसके ग्रीक, लेटिन, जर्मन एवं अन्य आधुनिक योरोपीय भाषाओं का विकास हुआ। दूसरा दल पूरब की ओर बढ़ा, जिससे मध्य एशिया की तोखरी भाषा का विकास हुआ, जिसके घुमंतू लोगों के साथ हिमालय के उत्तर चीन तक में भारोपीय भाषा के शब्द पहुंच गए। फिर उत्तर-पश्चिम एशिया के तुर्की अंचल में निवास करने वाले हित्ती भी इसी भारोपीय परिवार की भाषावाले बने। आगे चलकर जब वे लोग और पूरब की तरफ बढ़े, तो ईरान की पुरानी 'अवेस्ता' भाषा के जनक बने। भारतवर्ष में संस्कृत, पालि आदि प्राचीन, मध्यकालीन जो भी भाषाएं विकसित हुईं और फिर उनसे आधुनिक सभी भारतीय आर्य भाषाएं विकसित हुईं, तो सभी के लिए आर्य भाषा नाम बड़े गौरव के साथ अपना लिया गया।

फारसी भाषा का शब्द 'हिंदू' मूलतः फारसी भाषा का नहीं है, बल्कि यह संस्कृत 'सिंधु' शब्द का फारसी उच्चारण है। फारसी उच्चारण की बात तो 'सिंधु' शब्द पर आश्रित है, जिसके बारे में कहा जाता है कि ईरान या फारस के लोग जब भारत की सिंधु नदी से परिचित हुए तो चूंकि पुरानी ईरानी अर्थात 'अवेस्ता' भाषा में महाप्राण ध्वनियां नहीं होतीं, अतः जो 'ध' महाप्राण ध्वनि थी, उसके लिए अल्प प्राण ध्वनि 'द' उच्चरित हुई- यानी 'धु'-'दु' हो गई। इसी प्रकार 'संस्कृत' की 'स' ध्वनि फारसी में 'ह' उच्चारित हुई, जैसे 'असुर' का अहुर, उसी तरह 'सिंधु' का 'स' 'ह' हो गया; तो 'सिंधु' का 'हिंदु' बन गया।

सन् 500 ई. पूर्व ईरान के शासक दारयवहु के लेखों में भारत के लिए 'हिंदु' का प्रयोग हुआ। 'सप्त सिंधव' के लिए वहां 'हप्त हिंदवः' प्रयोग मिलता है। तात्पर्य यह कि ईरान के लोग जब भारत में सिंधु नदी क्षेत्र में आए तो इस विशाल नदी को देख इसके संस्कृत नाम 'सिंधु' को अपने फारसी उच्चारण के आधार पर 'हिंदु' कहने लगे। फिर इसके किनारे रहने वाले लोगों को भी 'हिंदु' कहने लगे। फिर जब और पूरब में बढ़ते गए तो जहां तक जा सके पूरब में बंगाल, असम तक, फिर जब उत्तर दक्षिण भी फैले तो कश्मीर से कन्याकुमारी तक की सारी जगहों के निवासियों को 'हिंदू' कहने लगे।

आगे चलकर इसी आधार पर इस 'हिंदु' देश में बोली जाने वाली एक प्रसिद्ध बोली 'हिंदी' के नाम से विख्यात हुई। यद्यपि कई विद्वान सीधे 'हिंदी' का विकास आज की भाषा के रूप में न मानकर 'हिंदुई', 'हिंदवी', 'हिंदीकी' और 'हिंदी' के अनेक स्तरों को पार करते हुए बताते हैं। परंतु सबका निचोड़ यही है कि ईरान से आए फारसी भाषा-भाषियों ने 'सिंधु' को जो हिंदु नाम दिया, वही 'हिंदी' नाम का एकमात्र आधार बन गया।

'हिंदी' शब्द का प्रयोग अमीर खुसरो ने भी किया। अमीर खुसरो तुर्क थे, लेकिन वे भारत में पैदा हुए थे। 1317 ई. के आसपास जन्मे अमीर खुसरो का कहना था- "चूंकि मैं भारत में पैदा हुआ हूं अतः मैं यहां की भाषा के संबंध में कुछ कहना चाहता हूं। इस समय, यहां प्रत्येक प्रदेश में ऐसी विचित्र एवं स्वतंत्र भाषाएं प्रचलित हैं जिनका एक-दूसरे से संबंध नहीं है। ये हैं– हिंदी (सिंधी), लाहौरी (पंजाबी), कश्मीरी-डूगरों (जम्मू के डूगरों) की भाषा, धुर समुंदर (मैसूर की कन्नड़ भाषा), तिलंग (तेलुगु), दिल्ली तथा उसके आसपास की भाषा

(पश्चिमी हिंदी)। ये सभी हिंदी की भाषाएं हैं, जो प्राचीन काल से ही जीवन के सामान्य कार्यों के लिए, हर प्रकार से, व्यवहृत होती आ रही हैं।"

एक अन्य स्थान पर हिंदी की चर्चा करते हुए अमीर खुसरो लिखते हैं- "यह हिंदी की भाषा है।" ऐसा प्रतीत होता है कि यहां वास्तव में खुसरो का संस्कृति से तात्पर्य है, न कि उस भाषा से जिसे आज हम इस नाम से अभिहित करते हैं।

हिंदी की जगह 'भाषा' नाम का प्रयोग

हिंद के एक विशेष क्षेत्र में प्रयोग की जाने वाली भाषा को कालांतर में 'हिंदी' के नाम से पुकारा जाने लगा। मध्यकालीन अपभ्रंशों से जो भी आधुनिक भाषाएं विकसित हो रही थीं, बहुत दिनों तक उनका कोई एक नाम स्थिर नहीं हो पाया था। तब सभी क्षेत्रों में उन्हें अलग-अलग अर्थों में 'भाषा' ही कहा जाता था।

आधुनिक हिंदी के विविध रूपों के लिए भाषा या 'भाखा' शब्द का प्रयोग- संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश की जगह केवल मात्र 'भाषा कविता' के सम्मान का प्रथम उल्लेख काशी के गायकवाड़ राजाओं के दरबार में होने का विवरण मिलता है, जहां परम विद्वान कवि विद्याधर की 'भाषा में कविता' करने के लिए बड़ाई की गई है। बारहवीं शताब्दी में काशी-कन्नौज के गाहड़वल वंश के राजा गोविंद चंद्र के सभा पंडित दामोदर शर्मा ने संस्कृत के माध्यम से राजकुमारों को 'भाषा' सिखाई थी। यहां 'भाषा' का प्रयोग काशी की पुरानी कोसली या भोजपुरी भाषा के लिए किया गया है। कबीर ने अपनी 'पूरबी बानी' (मेरी बानी पूरबी- अर्थात काशी की भोजपुरी) को 'भाषा' कहा, 'कविरा संस्कृत कूप जल भाषा बहता नीर।' उल्लेखनीय बात यह है कि कबीर धर्म के प्रसंग में 'हिंदू' नाम तो खूब लेते हैं परंतु 'भाषा' के अर्थ में 'हिंदी' का व्यवहार कहीं नहीं करते।

अपभ्रंश की समाप्ति और आधुनिक भारतीय भाषाओं के जन्मकाल के समय को संक्रांतिकाल कहा जा सकता है। हिंदी का स्वरूप शौरसेनी और अर्धमागधी अपभ्रंशों से विकसित हुआ है। 1000 ई. के आसपास इसकी स्वतंत्र सत्ता का परिचय मिलने लगा था, जब अपभ्रंश भाषाएं साहित्यिक संदर्भों में प्रयोग में आ रही थीं। यही भाषाएं बाद में विकसित होकर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के रूप में अभिहित हुईं। अपभ्रंश का जो भी कथ्य रूप था वही आधुनिक बोलियों में विकसित हुआ। अपभ्रंश के संबंध में 'देशी' शब्द की भी बहुधा चर्चा की जाती है।

वास्तव में 'देशी' से देशी शब्द एवं देशी भाषा दोनों का बोध होता है। प्रश्न यह है कि देशीय शब्द किस भाषा के थे? भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में उन शब्दों को 'देशी' कहा है जो 'संस्कृत के तत्सम एवं तद्भव रूपों से भिन्न हैं।' ये 'देशी' शब्द जनभाषा के प्रचलित शब्द थे, जो स्वभावतया अपभ्रंश में भी चले आए थे। जनभाषा व्याकरण के नियमों का अनुसरण नहीं करती, परंतु व्याकरण को जनभाषा की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करना पड़ता है. प्राकृत-व्याकरणों ने संस्कृत के ढांचे पर व्याकरण लिखे और संस्कृत को ही प्राकृत आदि की प्रकृति माना। अतः जो शब्द उनके नियमों की पकड़ में न आ सके, उनको देशी संज्ञा दी गई। प्राचीन काल से बोलचाल की भाषा को देशी भाषा अथवा 'भाषा' कहा जाता रहा। पाणिनी के समय में संस्कृत बोलचाल की भाषा थी। अतः पाणिनी ने इसको 'भाषा' कहा है।

कुल मिलाकर हिंदी भाषा के नामकरण के प्रश्न पर विचार करें तो चाहे 'हिंदी' नाम देने का श्रेय भले ही बाहरी आगंतुकों का हो लेकिन आज यह न केवल हिंदी भाषा बल्कि कई भारतीय भाषा समूहों के लिए प्रयुक्त होता है।

4.3 भाषा और बोली में अंतर

तेरहवीं शताब्दी में आज की हिंदी भाषा केवल अपने स्थान दिल्ली की सीमित बोली थी। लगभग सात सौ वर्षों तक यह बोली के रूप में प्रचलित रही। इसकी अपेक्षा इसके साथ की बोलियां अधिक विकसित हुईं, और भाषा के रूप में साहित्य का माध्यम बनीं। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में ऐसी परिस्थितियां बनती गईं जिनके कारण खड़ी बोली ने अत्यंत तीव्रता से भाषा का दर्जा प्राप्त किया और लगभग सौ वर्ष के भीतर ही हिंदी का मानक स्वरूप निर्धारित हो गया। स्वाधीनता के उपरांत संवैधानिक तौर पर हिंदी को राष्ट्रभाषा का दर्जा दिया गया क्योंकि यह देश के अधिकांश भागों में बोली और समझी जाती है। वर्तमान में, भारत में ही नहीं, विदेशों में भी इसके प्रयोक्ताओं की संख्या बहुत अधिक है। मॉरीशस, जर्मनी तथा कई यूरोपीय देशों में भी शिक्षण व साहित्य के स्तर पर मानक हिंदी की उपस्थिति है।

किसी समाज की विभिन्न बोलियों या भाषा रूपों में से जिस बोली को परंपरा से प्रधानता प्राप्त होती है, वही प्रायः परिभाषित होकर भाषा के रूप में ढलती है। इस प्रकार भाषा के स्वरूप की स्वीकृति में सुदीर्घ ऐतिहासिक परंपरा विद्यमान रहती है।

इसी दृष्टि से खड़ी बोली ने मानकीकरण की ऐतिहासिक और प्राकृतिक प्रक्रिया से गुजरकर हिंदी भाषा का रूप ग्रहण किया है। वस्तुतः ऐतिहासिक दृष्टि से भाषा के स्तर तक पहुंचने वाली खड़ी बोली का नाम लगभग दो सौ वर्ष पुराना है जबकि हिंदी शब्द लगभग डेढ़ हजार वर्ष पूर्व प्रयोग में आना शुरू हो गया था। हिंदी शब्द की व्युत्पत्ति 'हिंद' शब्द से हुई।

हिंदी प्राचीनकाल से ही भारत में प्रायः सभी प्रदेशों में प्रचलित रही है। अंग्रेजों के शासनकाल में अंग्रेजी का प्रभुत्व स्थापित हुआ लेकिन भारतीय समाज में हिंदी का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान बना रहा। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद संवैधानिक तौर पर हिंदी को राष्ट्रभाषा और मातृभाषा का दर्जा दिया गया।

इस प्रकार किसी भाषा के स्वरूप की स्वीकृति में ऐतिहासिक या परंपरागत मान्यता का भी महत्व होता है। परंपरा से जो बोली बनती है वह अपने क्षेत्र में आनेवाली अन्य बोलियों को प्रभावित करती है तथा खुद भी उनसे प्रभाव ग्रहण करके उस संपूर्ण भाषा क्षेत्र में सशक्त बन जाती है। यह भाषा अपने प्रदेश की अन्य बोलियों की अपेक्षा अधिक सशक्त तथा प्रचलित होती है।

क्षेत्रीय बोली का स्वरूप अधूरे वाक्यों, अशुद्ध या असंगत शब्दों या उच्चारणों से युक्त हो सकता है, लेकिन शिष्ट समाज में, प्रशासनिक कार्यों में या शिक्षा संस्थाओं आदि में हम जिस भाषा का प्रयोग करते हैं वह व्याकरण-सम्मत तथा व्यवस्थित होती है। उसमें स्थानीय बोलियों के वैकल्पिक रूप नहीं होते अपितु एकरूपता होती है। भाषा एक स्वीकृत रूप होता है जो सभी जगह उसी-उसी रूप में प्रयुक्त होता है।

भाषा और बोली में प्रमुख अंतर

किसी भाषा के सीमित और लघुतम रूप को बोली कहा जाता है। बोली व्यक्ति-विशेष के भाषित प्रयोग पर आधारित होती है।

बोली का क्षेत्र प्रायः एक स्थान-विशेष या अधिक से अधिक एक प्रांत होता है जबकि भाषा किसी राष्ट्र या राज्य-समाज का प्रतिनिधित्व करती है, जिसका प्रयोग वहां के सुशिक्षित समुदाय द्वारा अपने साहित्यिक, प्रशासनिक, व्यापारिक, वैज्ञानिक, सामाजिक-सांस्कृतिक आदि समस्त औपचारिक कार्यों में किया जाता है। यही समान भाषा रूप वैश्विक संदर्भों में भी व्यवहृत होता है।

किसी भाषा के अंतर्गत कई बोलियां हो सकती हैं, लेकिन किसी बोली के अंतर्गत एक या अधिक भाषाएं नहीं हो सकतीं। हिंदी भाषा के अंतर्गत कई बोलियां आती हैं, लेकिन किसी बोली विशेष में हिंदी को समेटा नहीं जा सकता। बोली को विभाषा, उपभाषा या प्रांतीय भाषा भी कहा जाता है।

वस्तुतः गहरे उतरकर देखें तो भाषा और बोली के बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती, क्योंकि दोनों गहन रूप से अंतःसंबंधित हैं। जब कोई बोली किन्हीं कारणों से प्रमुखता पाकर व्यापक क्षेत्र में साहित्य-शिक्षा-शासन आदि के कार्यों में व्यवहृत होने लगती है तो उसे भाषा कहा जाने लगता है। इस प्रकार भाषा और बोली का अंतर मूलतः स्वरूप, गुण और मात्रा का है।

भाषा की विभिन्न बोलियां अपने अस्तित्व की दृष्टि से स्वतंत्र होती हैं। ये विचार-विनिमय के अपने उद्देश्य की दृष्टि से पूर्ण होती हैं और उच्चारण, व्याकरण व शब्द-समूह की दृष्टि से विविधता-संपन्न भी।

भाषा का क्षेत्र व्यापक होता है, जबकि बोली का सीमित। भाषा व्याकरण-सम्मत तथा शुद्ध होती है, जबकि बोली का कोई सुनिश्चित व्याकरण नहीं होता। बोली के बहुत से प्रयोगों में व्याकरण का अभाव देखा जा सकता है।

भाषा में एकरूपता-सम्मत विशिष्टता होती है। उसकी शब्दावली, वाक्य-रचना, उच्चारण आदि की एकरूपता व समानता बनाए रखने के लिए प्रयोक्ता सचेत रहते हैं। बोली में ऐसी एकरूपता नहीं पाई जाती। यह अपने क्षेत्र के प्रयोक्ताओं द्वारा ही बोली जाती है। भाषा के मौखिक व लिखित रूपों में भी एकरूपता व समानता होती है। उच्चरित शब्द-रूप की वर्तनी भी व्याकरणिक नियमों के अनुसार निश्चित होती है, जबकि बोली अधिकतर मौखिक रूप में प्रयुक्त होती है और उसके मौखिक-लिखित रूप में एकरूपता भी नहीं होती। यही कारण है कि भाषा शिक्षा-साहित्य आदि औपचारिक प्रसंगों में प्रयुक्त होती है जबकि बोली अनौपचारिक प्रसंगों में ही प्रायः अस्तित्व में प्रत्यक्ष होती है।

भाषा में चार विशिष्टताओं का होना अत्यंत आवश्यक है– स्वायत्तता, मानकीकरण, ऐतिहासिकता एवं जीवंतता। ये चारों लक्षण भाषा में अनिवार्य रूप से विद्यमान रहते हैं, जबकि बोली में ये नहीं मिलते। बोली में ऐतिहासिकता तथा जीवंतता तो नहीं होती है, किंतु मानकता तथा स्वायत्तता का वैशिष्ट्य नहीं पाया जाता। यद्यपि हिंदी की कुछ बोलियों को मानकीकृत करने के प्रयत्न हुए हैं, तथापि इन्हें भाषा नहीं कह सकते।

भाषा और बोली के तीन आधारभूत अंतरों को इस प्रकार देखा जा सकता है-

	भाषा	बोली
1.	भाषा का अपना एक विस्तृत क्षेत्र होता है।	भाषा का स्थानीय रूप होने के कारण बोली का क्षेत्र सीमित होता है। एक भाषा क्षेत्र में अनेक बोलियां बोली जाती हैं।
2.	भाषा में साहित्य–सृजन का कार्य होता है।	बोली में साहित्य–सृजन नहीं होता। यदि बोली में रचना की जाती है तो वह उपभाषा का रूप ले लेती है।
3.	भाषा का प्रयोग विस्तृत क्षेत्र में तथा शासकीय कामकाज में भी होता है।	बोली सामान्य बोलचाल के लिए प्रयुक्त होती है। शासकीय कामकाज में यह प्रयुक्त नहीं होती।

भाषा विज्ञान भाषा के अध्ययन की वह शाखा है जिसमें भाषा की उत्पत्ति, स्वरूप, विकास आदि का वैज्ञानिक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जाता है। भाषा विज्ञान के अध्येता 'भाषा विज्ञानी' कहलाते हैं। भाषा विज्ञान व्याकरण से भिन्न है। व्याकरण में किसी भाषा का कार्यात्मक अध्ययन (Functional description) किया जाता है जबकि भाषा विज्ञानी इसके आगे जाकर भाषा का अत्यंत व्यापक अध्ययन करता है। अध्ययन के अनेक विषयों में से आजकल भाषा विज्ञान को विशेष महत्व दिया जा रहा है। भाषा संबंधी अध्ययन को अनेक संज्ञाओं से अभिहित किया जाता रहा है। शुरू में इस अध्ययन को फिलोलॉजी (Philology) शब्द के आगे विशेषण के रूप में एक शब्द जोड़ा गया- कम्पैरेटिव (Comparative) तब इसे कम्पैरेटिव फिलोलॉजी कहकर पुकारा गया। उन्नीसवीं सदी में संपूर्ण यूरोप में ही Linguistiques अथवा Linguistics नाम ही प्रचलित रहा। भारतवर्ष में इन सभी यूरोपीय नामों के अतिरिक्त हिंदी भाषा में जो नाम प्रयोग में लाए जाते हैं, वे हैं- भाषाशास्त्र, भाषा तत्व तथा तुलनात्मक भाषा विज्ञान आदि। इन सभी नामों में सर्वप्रचलित नाम भाषा विज्ञान ही है। 'भाषा विज्ञान' नाम में दो पदों का प्रयोग हुआ है- 'भाषा' तथा 'विज्ञान'। अतः यही नाम इस शास्त्र के लिए सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है।

भाषा विषयक जिज्ञासाओं की तृप्ति, अर्थ-उच्चारण-प्रयोग विषयक समस्याओं का समाधान, विदेशी भाषाओं को सीखने में योगदान, भाषा-लिपि आदि में सरलता-शुद्धता संबंधी सहयोग की दृष्टि से भाषा विज्ञान का महत्व अक्षुण्ण है।

ध्वनि-विज्ञान भाषा विज्ञान का महत्वपूर्ण अंग है। इसका संबंध भाषा के भौतिक आधार स्वन अर्थात ध्वनि से है। ध्वनि-विज्ञान में मानव मुख से निस्सृत ध्वनियों का सर्वांगीण विवेचन किया जाता है। भाषा विज्ञान के अंतर्गत जितना इस क्षेत्र में कार्य हुआ है, उतना किसी अन्य क्षेत्र में नहीं। ध्वनि शब्द संस्कृत का शब्द है। संस्कृत में 'ध्वनि शब्द' एक धातु है, उसी धातु से ध्वनि शब्द निर्मित हुआ है।

सामान्यत: कर्णगोचर कोई भी शब्द ध्वनि संज्ञा से अभिहित किया जाता है, किंतु भाषा विज्ञान में इस प्रकार की किसी ध्वनि की अपेक्षा नहीं है, जिसका संबंध भाषा से न हो, जो सार्थक न हो।

इस इकाई में हम भाषा विज्ञान की परिभाषा, क्षेत्र एवं अन्य विषयों से संबंध को रेखांकित करते हुए स्वनों के वर्गीकरण, स्वन गुण एवं नियम, स्वन परिवर्तन की दिशाएं और काल से परिचित होंगे।

5.1 इकाई के उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप-

- भाषा विज्ञान, इसके क्षेत्र एवं इसका अन्य विषयों से संबंध को समझ पाएंगे;
- भाषा विज्ञान की विविध शाखाओं से परिचित हो पाएंगे;
- स्वर एवं व्यंजन स्वनों का वर्गीकरण कर पाएंगे;
- स्वन के गुण एवं नियम समझ पाएंगे;
- स्वन परिवर्तन की दिशा और कारणों से अवगत हो पाएंगे।

5.2 भाषा विज्ञान : परिभाषा, क्षेत्र एवं अन्य विषयों से संबंध

भाषा विज्ञान एक यौगिक शब्द है, जो 'भाषा' और 'विज्ञान' इन दो शब्दों के योग से बना है। इनमें से भाषा उस वाणी को कहते हैं, जिसके नियमों में विकल्प के लिए तनिक भी अवकाश नहीं होता, जो अकाट्य एवं अतर्क्य होते हैं। अर्थात 'भाषा विज्ञान' वह विज्ञान है जिसमें भाषा एवं भाषा तत्वों का ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक आधार पर वैज्ञानिक-अध्ययन किया जाता है।

अंग्रेज़ी में 'भाषा विज्ञान' के लिए प्राय: दो शब्द प्रचलित हैं–'Philology' तथा 'Linguistics'। भाषा के मर्मज्ञ ब्लूमफील्ड (Bloomfield) का मंतव्य है कि जिसमें लिखित भाषा का अध्ययन किया जाता है उसे 'Philology' कहते हैं तथा जिसमें बोलचाल की भाषा का अध्ययन किया जाता है उसे 'Linguistics' कहते हैं। वहीं, डॉ. अंबा प्रसाद 'सुमन' ने अपने ग्रंथ 'भाषा विज्ञान' में लिखा है कि–"जिसमें भाषाओं की आंतरिक रचना का अध्ययन किया जाता है, उसे 'Linguistics' तथा जिसमें भाषाओं के आंतरिक एवं बाह्य सभी रूपों का अध्ययन

किया जाता है, उसे 'Philology' कहते हैं। इसी तरह 'Philology' का वही अर्थ है, जो 'Linguistics' का है।

भाषा का वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन ही भाषा विज्ञान है। प्राचीन काल में भाषा विषयक विभिन्न अंगों के अध्ययन के लिए शिक्षा, निरुक्त, व्याकरण, प्रातिशाख्य जैसे शब्द प्रचलित थे–इनमें से प्रत्येक का संबंध भाषा के किसी अंग विशेष से रहता था। पश्चिम में इसे Comparative Philology, Comparative Grammar, Elossalogy कहा गया। आगे चलकर अंग्रेज़ी में इसे Science of Language कहा गया, जो Linguistics के रूप में प्रचलित हुआ। हिंदी के भाषाविदों ने इसे 'भाषाशास्त्र', 'भाषा लोचन' और भाषिकी कहा है, लेकिन इसका नाम भाषा विज्ञान ही सर्वाधिक लोकप्रिय हुआ। यह भाषा के विभिन्न अवयवों और पहलुओं का विवेचन करने वाली विद्याशाखा है, जिसमें उसकी संरचना, प्रकृति और विकास की विभिन्न स्थितियों का अध्ययन किया जाता है।

5.2.1 भाषा विज्ञान की परिभाषाएं एवं क्षेत्र

भाषा विज्ञान की परिभाषाएं विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की हैं, जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं–

1. डॉ. पी.डी. गुणे ने भाषा विज्ञान को 'Science of Language' माना है। उनके अनुसार, 'तुलनात्मक भाषा विज्ञान' या केवल 'भाषा विज्ञान' भाषा का विज्ञान है। यथार्थत: फिलोलॉजी शब्द का अर्थ किसी भाषा का साहित्यिक दृष्टि से अध्ययन है। जर्मनी में यूरोप के अन्य देशों की भांति ही, फिलोलॉजी का अर्थ अब भी किसी साहित्य का अध्ययन है। संप्रति भाषाओं में किसी विशेष वर्ग के तुलनात्मक भाषा विज्ञान का उद्देश्य है, उनकी पारस्परिक समानता का अन्वेषण एवं उनकी व्याख्या। इस प्रकार गुणे के अनुसार भाषा विज्ञान भाषाओं के विशिष्ट अध्ययन, साहित्यिक दृष्टि से भाषाओं का अध्ययन एवं विभिन्न वर्गों की भाषाओं की वर्गीय समानता तथा असमानता का अध्ययन है।

2. डॉ. श्यामसुंदर ने अपनी पुस्तक 'भाषा रहस्य' में भाषा विज्ञान की परिभाषा इस प्रकार की है–"भाषा विज्ञान भाषा की उत्पत्ति, उसकी बनावट, उसके विकास तथा उसके ह्रास की वैज्ञानिक व्याख्या करता है।"

3. डॉ. मंगलदेव शास्त्री भाषा विज्ञान की परिभाषा करते हुए लिखते हैं–

   भाषा विज्ञान उसे कहते हैं, जिसमें– सामान्य रूप से मानवीय भाषा का, किसी विशेष भाषा की रचना और इतिहास का और अंतत: भाषाओं या प्रादेशिक भाषाओं के वर्गों की पारस्परिक समानताओं और विशेषताओं पर तुलनात्मक विचार किया जाता है।

4. डॉ. भोलानाथ तिवारी के अनुसार, "जिस विज्ञान के अंतर्गत समकालीन, ऐतिहासिक, तुलनात्मक और प्रायोगिक अध्ययन के सहारे भाषा की उत्पत्ति, गठन, प्रकृति और विकास आदि की सम्यक् व्याख्या करते हुए उन सभी के विषय में सिद्धांतों का निर्धारण हो, उसे भाषा विज्ञान कहते हैं।"

5. डॉ. देवीशंकर द्विवेदी के अनुसार, भाषा विज्ञान को अर्थात भाषा के विज्ञान को भाषिकी कहते हैं। भाषिकी में भाषा का वैज्ञानिक विवेचन किया जाता है।

6. आर.एच. रोबिन्स के अनुसार, General linguistics may be defined as the science of language. —*R.H. Robins, General Linguistics, p. 1*

7. जॉन लायंस के अनुसार, "भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन को भाषा विज्ञान कहा जा सकता है। (Introduction to theoretical linguistics)

8. डॉ. मनमोहन गौतम ने 'सरल भाषा विज्ञान में' भाषा विज्ञान की परिभाषा इस प्रकार की है–"भाषा विज्ञान वह शास्त्र है जिसमें ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा भाषा की उत्पत्ति, बनावट, प्रकृति, विकास एवं ह्रास आदि की वैज्ञानिक व्याख्या की जाती है।"

9. डॉ. देवेंद्रनाथ शर्मा के अनुसार, "भाषा विज्ञान का सीधा अर्थ है भाषा का विज्ञान और विज्ञान का अर्थ है विशिष्ट ज्ञान। इस प्रकार भाषा का विशिष्ट ज्ञान ही भाषा विज्ञान कहलाएगा।"

10. डॉ. बाबूराम सक्सेना ने भाषा विज्ञान की परिभाषा करते हुए लिखा है कि, "भाषा तत्वों का अध्ययन भाषा विज्ञान है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं का अनुशीलन कर हम कह सकते हैं कि भाषा विज्ञान में भिन्न-भिन्न भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन होता है। यह अध्ययन ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक रीति से किया जाता है। ऐतिहासिक रीति से भाषाओं की उत्पत्ति, विकास और भाषा में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन किया जाता है। तुलनात्मक रीति से विभिन्न भाषाओं का तुलनात्मक विवेचन किया जाता है। भाषा में परिवर्तन होता है, जो साधारण लोगों की बोलचाल में अधिक दिखाई देता है। अतः भाषा विज्ञान में बोलियों का भी विस्तृत विवेचन किया जाता है। भाषा विज्ञान में भी विज्ञान की भांति सिद्धांत या नियम होते हैं।

भाषा विज्ञान का क्षेत्र

भाषा विज्ञान भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करने वाला विज्ञान है। भाषा मानव मात्र के लिए अनिवार्य तत्व है, उसकी व्यवहार साधिका है। अतः भाषा विज्ञान का विषय क्षेत्र व्यापक है। कहा गया है कि "भाषा विज्ञान का क्षेत्र उतना ही व्यापक है जितनी कि संपूर्ण मानवता, क्योंकि इसका संबंध विश्व के मनुष्यों की भाषा से है।" यह भाषा विज्ञान तथा उसके विभिन्न अंगों का व्यापक अध्ययन प्रस्तुत करता है। भाषा विज्ञान के अंतर्गत जिन विषयों का हम अध्ययन करते हैं, उन्हें सुविधा की दृष्टि से प्रधान विषय तथा गौण विषय, इन दो भागों में विभक्त कर सकते हैं।

प्रधान विषयों के अंतर्गत वाक्य-विज्ञान, रूप-विज्ञान, ध्वनि-विज्ञान तथा अर्थ-विज्ञान की गणना होती है। गौण विषयों के अंतर्गत भाषा की उत्पत्ति, भाषाओं का वर्गीकरण, व्युत्पत्तिशास्त्र, शब्दसमूह, लिपि, प्रागैतिहासिक खोज तथा भाषा विज्ञान का इतिहास आदि विषय सन्निविष्ट होते हैं।

(क) प्रधान विभाग

प्रधान विभाग के अंतर्गत निम्न विज्ञानों का अध्ययन किया जाता है–

1. **वाक्य विज्ञान**– भाषा मनुष्य के विचार विनिमय का साधन है। वाक्य विचारों द्वारा प्रकट किए जाते हैं। किन्हीं दो भाषाओं के वाक्यों की तुलना को वाक्यविचार या वाक्य-विज्ञान कहते हैं। इसके अंतर्गत वाक्य रचना पर विचार किया जाता है। वाक्यविचार के अध्ययन को तीन उपविभागों में विभक्त किया जा सकता है– वर्णनात्मक वाक्यविचार (Descriptive syntax), ऐतिहासिक वाक्यविचार (Historical syntax) तथा तुलनात्मक वाक्यविचार (Comparative syntax)। इनमें वर्णनात्मक वाक्यविचार में वाक्य का अध्ययन साधारण रूप से किया जाता है। ऐतिहासिक वाक्यविचार में वाक्यरचना का इतिहास तथा तुलनात्मक वाक्यविचार में दो भाषाओं के वाक्यों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार वाक्य-विज्ञान में वाक्य का अध्ययन पदक्रम, अन्वय, परिवर्तन आदि की दृष्टि से किया जाता है। वाक्य-विज्ञान को 'वाक्यविचार' अथवा 'वाक्य रचना शास्त्र' के नाम से भी अभिहित किया जाता है।

2. **रूप-विज्ञान**– इसे पद विज्ञान या पद रचना शास्त्र भी कहते हैं। इसके अंतर्गत भाषा का रूपात्मक अध्ययन किया जाता है। इसमें उन विषयों का अध्ययन किया जाता है, जिनसे शब्द-रचना होती है। इसमें मुख्य रूप से धातु, उपसर्ग, प्रत्यय, शब्द, विभक्ति आदि का विवेचन किया जाता है। पद विज्ञान का अध्ययन भी वाक्य विज्ञान की भांति ही वर्णनात्मक, ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक इन तीन प्रकारों से किया जा सकता है। रूप-विज्ञान को पद विज्ञान, पद रचना शास्त्र, रूप विचार आदि नामों से भी संबोधित किया जाता है।

3. **ध्वनि-विज्ञान**– ध्वनियों की सहायता से ही पद या शब्द की रचना होती है अर्थात शब्दों का निर्माण ध्वनियों से होता है। अतः भाषा विज्ञान में ध्वनियों का महत्व स्वयंसिद्ध है। ध्वनि विज्ञान भाषा विज्ञान का नीरस, क्लिष्ट किंतु अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण विषय है। इस विभाग के अंतर्गत ध्वनि परिवर्तन, उसके कारण और दिशा के विश्लेषण के साथ ध्वनि अवयव अर्थात मुखविवर, नासिकाविवर, स्वरतंत्री, ध्वनियंत्र आदि, ध्वनि उत्पन्न होने की क्रिया, ध्वनि लहरों का प्रसरण, ध्वनि का सुना जाना, ध्वनि तरंग आदि का तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन, सामान्य नियम निर्माणादि का अध्ययन किया जाता है।

   डॉ. गुणे का कथन है कि वस्तुतः इसे ध्वनियों का उच्चारण, अक्षर रूप में उनका संयोग, उन अक्षरों का शब्द रूप में संयोग तथा अंततः शब्दों से वाक्यों का निर्माण आदि भाषा विषयक विभिन्न तत्वों पर विचार करना पड़ता है।

4. **अर्थ-विज्ञान**– शब्दों का अर्थ ही विचार-विनिमय के साथ ग्राह्य होता है। अर्थ ही भाषा की आत्मा है। भाषा विज्ञान में भाषा अध्ययन का विषय है, अतः भाषा की आत्मा अर्थ पर आवश्यक रूप से विचार किया जाता है। अर्थ विज्ञान में शब्दों का अर्थ से संबंध, अर्थ-परिवर्तन, अर्थ-परिवर्तन के कारण, अर्थ-ध्वनि-संबंध, पर्याय, विलोम आदि बातों पर विचार किया जाता है। अर्थ-विचार वर्णनात्मक, ऐतिहासिक

तथा तुलनात्मक रूप से किया जा सकता है। इसमें किस प्रकार शब्द अपने अर्थ को छोड़कर दूसरा अर्थ ग्रहण कर लेता है, कैसे अर्थ का संकुचन एवं विस्तारण होता है, आदि का विचार किया जाता है। 'अश्व' का अर्थ घोड़ा ही क्यों हुआ, 'उपाध्याय' किस प्रकार 'ओझा' अथवा 'झा' हो गए – इनका अध्ययन अर्थ विज्ञान के आश्रय से प्रस्तुत किया जा सकता है। इसे 'अर्थ विचार' या 'अर्थ उद्बोधन शास्त्र' भी कहते हैं।

इन प्रधान विभागों के अतिरिक्त डॉ. भोलानाथ तिवारी ने एक अन्य विभाग 'शब्द विज्ञान' भी स्वीकार किया है। 'शब्द विज्ञान' के अंतर्गत शब्दों का वर्गीकरण, शब्दसमूह में परिवर्तन के कारण, शब्दों का तुलनात्मक विवेचन, शब्दों की व्युत्पत्ति आदि का अध्ययन किया जाता है।

(ख) गौण विभाग

गौण विभाग के अंतर्गत निम्न विषयों का अध्ययन किया जाता है–

1. **भाषा की उत्पत्ति**– भाषा विज्ञान का सबसे अधिक स्वाभाविक तथा आवश्यक अध्ययन 'भाषा की उत्पत्ति' का है। भाषा की उत्पत्ति के विषय में अनेक विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से मंतव्य व्यक्त किए हैं, किंतु कुछ विद्वान भाषा की उत्पत्ति पर चिंतन करना भाषा विज्ञान के अंतर्गत स्वीकार नहीं करते, किंतु यह असमीचीन है। यद्यपि भाषा की उत्पत्ति का प्रतिपादन करना एक दुष्कर कार्य है, किंतु इसकी उत्पत्ति सिद्धांत की चर्चा करना भी अपरिहार्य है। अतः भाषा विज्ञान में भाषा की उत्पत्ति, उसके विकास आदि के प्रश्नों का समाधान किया जाता है।

   इस संदर्भ में डॉ. गुणे का कथन है कि, "इसमें भाषा की उत्पत्ति तथा विकास एवं परिवर्तन के कारण आदि अन्य प्रश्न भी समाविष्ट होते हैं। इस प्रकार, इसकी समस्या गत्यात्मक है। यह केवल भाषा की चिर परिवर्तनशीलता का ही अध्ययन नहीं करता, अपितु उस परिवर्तन के कारणों का भी पता लगाने का प्रयास करता है।"

2. **भाषाओं का वर्गीकरण**– इस विभाग में भाषाओं का तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक अध्ययन करके भाषा का वर्गीकरण किया जाता है तथा यह निश्चित किया जाता है कि भाषा किस कुल की है। भिन्न-भिन्न भाषाओं का अध्ययन वाक्य-विज्ञान, रूप विज्ञान, ध्वनि विज्ञान तथा अर्थ विज्ञान आदि तथ्यों पर विचार करके किया जाता है। भाषाओं को आकृतिमूलक तथा पारिवारिक वर्गीकरण में विभक्त करना भाषा विज्ञान का एक महत्वपूर्ण अंग है।

   इस विषय में डॉ. गुणे का कथन है कि भाषाओं के किसी वर्ग विशेष की पारस्परिक समानताओं का अन्वेषण और उनकी व्याख्या करना, तुलनात्मक भाषा विज्ञान का उद्देश्य है–इस प्रसंग में ह्विटनी का उद्धरण द्रष्टव्य है–"भाषा मानव अभिव्यक्ति (पशु अभिव्यक्ति से भिन्न) के साधन के रूप में, उसकी एकरूपता तथा सामग्री एवं संरचना की दृष्टि से आंतरिक अनेकता को ठीक से समझने के लिए भाषाओं की समानता और अंतर के कारण का पता लगाना पड़ता है एवं समानता तथा अंतर की स्पष्ट सीमा रेखा निर्धारित करके उन्हें वर्गीकृत करना पड़ता है।"

3. **व्युत्पत्तिशास्त्र**– भाषा विज्ञान का प्रारंभ व्युत्पत्तिशास्त्र से ही हुआ है। इसके अंतर्गत शब्द के संपूर्ण जीवन का इतिहास तथा उसमें होने वाले बाह्य एवं आंतरिक परिवर्तनों पर विचार किया जाता है। इसमें ध्वनि, अर्थ, रूप आदि पर भी विचार किया जाता है। यह भाषा विज्ञान का स्वतंत्र विषय नहीं अपितु ध्वनि, अर्थ और रूपविचार का सम्मिलित रूप है।

4. **शब्द समूह**– इस विभाग के अंतर्गत किसी भाषा के नवीन शब्दों का सृजन एवं विदेशी शब्दों की स्वीकृति आदि बातों पर विचार होता है। शब्द समूह के अध्ययन से उसके प्रयोगकर्ताओं की विचारधारा पर प्रकाश पड़ता है।

5. **लिपि**–भाषा के लिखित रूप के लिए किसी न किसी लिपि की आवश्यकता होती है। लिपि के बिना भाषा साहित्य का सुरक्षित रहना अत्यंत कठिन है। अत: भाषा का लिपि से घनिष्ठ संबंध है। इसी से भाषा विज्ञान में लिपि की उत्पत्ति, विकास, लिपि का वर्तमान तथा भविष्य, लिपि की उपादेयता, ध्वनि-विज्ञान की सहायता से लिपि सुधार आदि का अध्ययन किया जाता है।

6. **प्रागैतिहासिक खोज**– यह भाषा विज्ञान का नवीनतम विभाग है। इसमें भाषा के आधार पर प्रागैतिहासिक काल की संस्कृति एवं सभ्यता पर प्रकाश डाला जाता है। इस क्षेत्र में भाषा विज्ञान ने एक नवीन आशा की किरण दी है। अभी इस विषय का विस्तृत अध्ययन यद्यपि नहीं हुआ है, तथापि इस दिशा में जो कुछ कार्य हुआ है, वह प्रशंसनीय एवं आशाजनक है।

7. **भाषा विज्ञान का इतिहास**– यह भी भाषा विज्ञान के अंतर्गत विश्लेषण का विषय है। जिस विषय के विभिन्न पहलुओं पर हम सूक्ष्म रूप से विचार कर रहे हैं, उसकी आत्मकथा-ज्ञान विषयक भावना का अंतर्गोपन कहां तक उचित है, भाषा विज्ञान का किन परिस्थितियों में विकास हुआ, किस-किस देश में किन-किन भाषाओं पर कार्य किया गया आदि को समझना आवश्यक है। भारत में इस पर किए गए कार्यों को दो भागों में विभक्त किया गया है–भारतीय विद्वानों द्वारा भाषा विज्ञान पर किए गए कार्य और पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किए गए कार्य।

8. **कोशविज्ञान**– कोश-निर्माण की क्या प्रक्रिया है? शब्द की व्युत्पत्ति क्या है? शब्द के अर्थों का निर्धारण कैसे होता है? शब्दों को कोश में किस क्रम से रखना चाहिए? ये बातें भाषा विज्ञान से संबद्ध हैं। इसलिए कोशविज्ञान भाषा विज्ञान का ही क्षेत्र माना जाता है। व्युत्पत्ति का विचार अलग से भी हो सकता है जिसके लिए हमारे यहां निरुक्त शब्द का प्रयोग होता था और अंग्रेज़ी में 'एटिमॉलॉजी' का। आज निरुक्त भी कोश विज्ञान के अंतर्गत स्वीकार किया जाता है।

9. **भाषिक भूगोल**– भाषिक भूगोल भाषा विज्ञान के क्षेत्र विस्तार की एक नवीन दिशा है, जिसमें भाषा संबंधी सीमाओं का विचार और निर्धारण किया जाता है। कोई भाषा कहां तक बोली जाती है, उसके वैभाषिक रूप क्या हैं एवं कहां प्रयुक्त होते हैं, एक भाषा से दूसरी भाषा की सीमाएं जब मिलती हैं तो वे कैसे एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं, सीमा प्रदेश की भाषा को किस भाषा के अंतर्गत माना जाए? आदि प्रश्न भाषिक भूगोल के द्वारा निर्णीत होते हैं।

पीछे वर्णित प्रधान एवं गौण विभागों के अतिरिक्त भाषा विज्ञान के अंतर्गत निम्नलिखित बातों का भी अध्ययन किया जाता है–

1. भाषा, भाषा की प्रकृति, विकास तथा उसके अनेक रूप जैसे बोली, उपभाषा, राजभाषा, राष्ट्रभाषा आदि।
2. भाषा के विकास में बाधा उत्पन्न करने वाले कारण तथा भाषिक पुनर्निर्माण आदि।
3. किसी वर्तमान भाषा के अध्ययन तथा अध्ययन सामग्री एकत्र करने की प्रणाली का विवेचन।
4. सुरविज्ञान, गलासे मेटिक्स, नाम विज्ञान, शैली शास्त्र, बोली विज्ञान, जाति भाषा विज्ञान आदि।
5. इसी प्रकार भाषा विज्ञान के गौण अंग भौगोलिक अध्ययन में भाषा का भौगोलिक दृष्टि से अध्ययन किया जाता है।
6. विश्व के विभिन्न भागों में प्रयुक्त भाषाएं, उनकी बोलियां तथा बोली भूगोल (Dialact Geography) भाषा विज्ञान के इसी अंग के अंतर्गत आती हैं।
7. शैली विज्ञान, जिसका संबंध साहित्य में भाषा के प्रयोग से है, का अध्ययन भाषा का ही अंग है, जिसमें यह देखा जाता है कि साहित्य या वार्तालाप में प्रभाव की दृष्टि से किस प्रकार के स्वरों (ध्वनियों), रूपों, वाक्यों या अर्थों को छोड़ा जाए और किन्हें संयुक्त किया जाए। इस विज्ञान द्वारा लेखक, कवि और वक्ता का मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है।
8. भू-भाषा विज्ञान में विश्व की भाषाओं का वर्गीकरण तथा उनके सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रभावों का संग्रह किया जाता है। बोली विज्ञान और भू-भाषा विज्ञान एक दूसरे से संबद्ध हैं। विभिन्न अवस्थाओं का अध्ययन, भाषा और समाज का पारस्परिक संबंध, भाषा का मानस पटल पर प्रभाव, भाषा और अनुभूति आदि के मनोवैज्ञानिक पक्ष का अध्ययन समाज भाषा विज्ञान (Socio-Linguistics) के अंतर्गत किया जाता है।
9. मनोवैज्ञानिक भाषा विज्ञान के अंतर्गत भाषा और मनोविज्ञान का पारस्परिक संबंध, भाषा का व्यक्तिगत और सामूहिक मानसिकता पर प्रभाव, भाषा और अनुभूति आदि मनोवैज्ञानिक पक्षों का अध्ययन किया जाता है।

5.2.2 भाषा विज्ञान का अन्य विषयों से संबंध

भाषा मनुष्य के अंतर्मन में निहित समस्त राग-विरागों, द्वंद्व, तनाव, करुणा, प्रेम, घृणा आदि को अभिव्यक्त करती है। विश्व में अनेक भाषाएं हैं जिनका इतिहास भाषा विज्ञान के द्वारा ही जाना जा सकता है। ये विविध भाषाएं विविध विषयों से संबद्ध हैं अतः भाषा विज्ञान का इन विषयों के साथ संबंध कैसा है यह वैज्ञानिक विधि से जाना जाता है। जीवन से साहित्य का और विविध विषयों का स्वाभाविक नाता है अतः भाषा और भाषा विज्ञान से भी यह संबंध स्वाभाविक रूप से जुड़ जाता है।

ज्ञान अखंड और अनंत है। विभिन्न नदियों के सागर में मिलने के समान ही वह भी अनंत धाराओं के रूप में प्रवाहित होता हुआ एक ही अखंड ज्योति में जाकर विलीन हो जाता है। जिज्ञासा के क्रम में एक स्थान ऐसा भी आता है, जहां शास्त्र और ज्ञान की काल्पनिक उपाधियां समाप्त हो जाती हैं और सम्मिलित एकाकार होकर ज्ञान अविभाज्य रूप में दृष्टिगत होने लगता है। परंतु व्यवहार की दृष्टि से उसके भेद करके अध्ययन करने में थोड़ी सुविधा रहती है और हम उसे विभिन्न शास्त्रों और विज्ञानों का रूप देकर संतुष्ट हो जाते हैं। अतएव इन भेदों के उपरांत भी अनेकता को प्राप्त शास्त्रों और विज्ञानों का अन्योन्याश्रित संबंध बना ही रहता है। कुछ शास्त्र परस्पर निरपेक्ष भी होते हैं, किंतु कुछ परस्पर सापेक्ष होते हैं। यहां भाषा विज्ञान के सापेक्ष शास्त्रों का अध्ययन ही अभिप्रेत है।

भाषा विज्ञान, भाषा का क्रमबद्ध ज्ञान है। भाषा मानव जीवन का अत्यंत उपकारक माध्यम है। अपने अनेक मंतव्य और भाव हम परस्पर भाषा के माध्यम से ही अभिव्यक्त कर सकते हैं। अर्थात भाषा के माध्यम से ही हम एक-दूसरे के विचारों से अवगत होते हैं, अपनी इच्छा या अभिलाषा व्यक्त करते हैं और लोक-व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं। भाषा ही हमें ज्ञान-विज्ञान के अनुसंधान में सहायता प्रदान करती है और भाषा से ही हम प्रगति के पथ पर अग्रसर होकर प्रकृति के विविध रहस्यों का उद्‌घाटन करने में समर्थ होते हैं। जब भाषा हमारे जीवन, जगत, ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों में अपना अधिकार रखती है, तब भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन करने वाले भाषा विज्ञान का संबंध ज्ञान-विज्ञान की अन्य शाखाओं एवं ज्ञान विज्ञान के प्रतिपादक विविध शास्त्रों से होना स्वाभाविक है। भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन करने वाले विद्वान भाषा विज्ञान का विविध शास्त्रों से बड़ा ही निकट एवं घनिष्ठ संबंध मानते हैं।

भाषा विज्ञान और साहित्य

यद्यपि भाषा विज्ञान को किसी भाषा के स्वभाव और उसकी सहज प्रवृत्तियों को समझने में असभ्य, अनपढ़ गंवारों और ठेठ ग्रामीणों की बोलियों से अधिक सहायता मिलती है तथापि साहित्य की संपन्न भाषाएं भी उसके लिए कम महत्वपूर्ण नहीं होतीं। साहित्य एक प्रकार से भाषा का स्थायी रूप है, इसलिए भाषा विज्ञान के अध्ययन का बहुत महत्वपूर्ण आधार है। जिस भाषा का साहित्य नहीं है, उसके भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन का अवकाश भी कम है, उस भाषा का कम से कम ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन तो संभव ही नहीं है। भाषा विज्ञान भाषा के अध्ययन के लिए (जीवित भाषाओं के जीवित रूप को छोड़कर) सारी सामग्री साहित्य से लेता है।

• साहित्य की भाषा विज्ञान को देन

1. साहित्य ही यह बता सकता है कि प्राचीन 'वैदिक भाषा का स्वरूप' क्या था, क्योंकि 'ऋग्वेद' में उस भाषा का स्वरूप आज तक सुरक्षित मिलता है।
2. साहित्य से ही यह बोध होता है कि किस तरह व्याकरण के नियमों से मुक्त कोई दूसरी भाषा भी जन-साधारण में उस समय प्रचलित थी, जिस समय वैदिक भाषा का संस्कार एवं परिष्कार हो रहा था, क्योंकि 'पालि' एवं 'प्राकृत' का साहित्य उस भाषा को आज तक संजोए है।

3. साहित्य से ही भाषा विज्ञान को यह ज्ञान होता है कि किस तरह अपभ्रंश भाषा के उपरांत हिंदी के प्राचीन रूपों का विकास हुआ, किस तरह खड़ी बोली, ब्रज, अवधी, भोजपुरी, बघेली, बांगरू आदि बोलियों का प्रादुर्भाव हुआ और किस तरह खड़ी बोली उत्तरोत्तर विकसित होती हुई आज एक परिनिष्ठित भाषा के रूप में प्रचलित है, क्योंकि इन सभी बोलियों एवं भाषाओं का साहित्य उपलब्ध है, जो भाषाओं के क्रमिक ऐतिहासिक विकास के अध्ययन हेतु प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करता है।

4. भाषा विज्ञान की प्रारंभिक अवस्था में व्याकरण और कोश से ही काम चल जाता था पर अब वाक्य विचार और अर्थातिशय का भी अध्ययन होने लगा है। इनका संबंध तो साहित्य से ही है। साहित्य भाव प्रधान होता है, इसलिए शब्द के भावों और अर्थों का अध्ययन करना भी भाषा विज्ञान के लिए आवश्यक एवं अनिवार्य माना जाता है।

5. जिन प्राचीन भाषाओं का अध्ययन एक वैज्ञानिक करता है, वे साहित्य के द्वारा रक्षित रहकर ही आज तक अमर हो सकी हैं अर्थात भाषा विज्ञान अपने अध्ययन के लिए संपूर्ण सामग्री साहित्य से लेता है। यदि आदि काल से आधुनिक काल तक का हिंदी साहित्य हमें उपलब्ध न हुआ होता तो भाषा विज्ञान हिंदी भाषा के 'ऐतिहासिक विकास' का अध्ययन किस प्रकार कर पाता? यदि आज 'संस्कृत', 'ग्रीक' और 'अवेस्ता' साहित्य हमारे समक्ष न होते तो यह जानना बड़ा कठिन होता कि इन तीनों भाषाओं के मूल में संस्कृत है।

6. भाषा के संबंध में क्यों, कब और कैसे का उत्तर देने के लिए साहित्य की सहायता लेनी पड़ती है। जीवित भाषा तो यह बतला देगी कि भोजपुरी में 'बाटे' शब्द है, पर यह कहां से आया, इसके लिए भाषा विज्ञान संस्कृत साहित्य को खोजेगा और तब यह कह सकेगा कि इसका मूल संस्कृत शब्द 'वर्तते' है या बुंदेलखंड की ओर नटखट लड़कों को, 'ओना मासी धम, बाप पढ़े ना हम' सुनकर जब जिज्ञासा बढ़ेगी कि यह 'ओना मासी धम' क्या बला है, तो प्राचीन साहित्य का अध्ययन ही उसे बतलाएगा कि 'शाकटायन' के प्रथम सूत्र 'ॐ नमः सिद्धम्' का ही यह बिगड़ा रूप है।

   साहित्य केवल अपने ऐतिहासिक विकास द्वारा भाषा विज्ञान के अध्ययन में सहायक नहीं होता, अपितु भाषा विज्ञान के तुलनात्मक अध्ययन के लिए भी पर्याप्त उपयोगी सामग्री प्रदान करता है।

7. साहित्य के आधार से ही आज भाषाओं के पारिवारिक विकास के अध्ययन का कार्य भाषा विज्ञान कर सका है, क्योंकि भाषा विज्ञान को साहित्य में ही वह सामग्री स्थायी रूप में मिल सकती है, जिसके आधार पर वह तुलना करता हुआ किसी एक भाषा-परिवार को निश्चित करता है, लैटिन, ग्रीक, संस्कृत, जर्मन, ईरानी, अवेस्ता आदि भाषाओं का मूल स्रोत एक है और ये सभी एक परिवार की भाषाएं हैं- यह पता इनके प्राचीन साहित्य के अध्ययन का ही परिणाम है। जिन भाषाओं

का प्राचीन साहित्य आज लुप्त हो गया है अथवा नष्ट हो गया है, उनका तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन करना आज भाषा विज्ञान के लिए सर्वथा असंभव है।

8. ऋग्वेद से पहले यहां कौन-सी भाषा प्रचलित थी, आज ऋग्वेद से पूर्व का साहित्य उपलब्ध न होने के कारण कुछ पता नहीं चलता। आज वैदिक भाषा, संस्कृत, प्राकृत, पालि, अपभ्रंश आदि का अध्ययन सुगमता से इसीलिए हो सकता है, क्योंकि इनका साहित्य उपलब्ध है और उसमें भाषा-विकास के सभी सोपान विद्यमान हैं।

   अत: भाषा विज्ञान को तुलनात्मक अध्ययन के लिए प्रचुर सामग्री उपलब्ध कराने का कार्य साहित्य ही करता है।

   "साहित्य से ही भाषा विज्ञान को ध्वनियों के परिवर्तन का अध्ययन करने के लिए पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है।"

9. साहित्य ही यह बता सकता है कि वैदिक काल में कितनी ध्वनियां प्रचलित थीं, प्राकृत काल में आकर उनमें क्या-क्या परिवर्तन हुए। अपभ्रंश काल में आकर वे पुन: किस तरह परिवर्तित हुईं और आधुनिक युग में आकर उनके अंतर्गत कैसे-कैसे परिवर्तन हुए हैं।

10. साहित्य से ही रूप परिवर्तनों का क्रमिक इतिहास ज्ञात होता है, क्योंकि साहित्य में ही किसी भाषा के प्राचीन एवं अर्वाचीन रूप विद्यमान रहते हैं। आज आर्य भाषा के विविध रूपों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भाषा विज्ञान को वैदिक साहित्य से लेकर प्राकृत, अपभ्रंश, ब्रज, अवधी, मैथिली आदि विविध भाषाओं के साहित्य में व्यवहृत शब्दावली का अध्ययन करना पड़ता है।

• भाषा विज्ञान की साहित्य को देन

जिस प्रकार भाषा विज्ञान साहित्य का ऋणी है, उसी प्रकार साहित्य भी किन्हीं अंशों में भाषा विज्ञान का ऋणी है।

1. साहित्य के ज्ञाता को साहित्य के; विशेषत: प्राचीन साहित्य का अध्ययन करने के लिए भाषा विज्ञान से सहायता लेनी पड़ती है। अति प्राचीन साहित्य को समझना तो भाषा विज्ञान पर ही निर्भर करता है।

2. प्राचीन साहित्य में बहुत सारे शब्द ऐसे मिलते हैं, जिनका अर्थ आसानी से समझ में नहीं आता। कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि एक शब्द पहले किसी दूसरे अर्थ में प्रयुक्त होता था और आज किसी दूसरे अर्थ में प्रयुक्त हो रहा है। जैसे 'असुर' शब्द का अर्थ देवता से बदलकर राक्षस हो गया, 'साहसिक' शब्द जो पहले डाकू का वाचक था, धीरे-धीरे हिम्मत वाले वीर पुरुष का द्योतक हो गया, 'स्वर्गवास' जो पहले देवों के निवास का द्योतक था धीरे-धीरे मृत्यु का वाचक हो गया है। ऐसे स्थलों का समाधान भाषा विज्ञान की सहायता से आसान हो जाता है।

3. भाषा विज्ञान साहित्य से क्लिष्ट अर्थों, शब्दों के विचित्र प्रयोगों तथा उच्चारण संबंधी अनेक समस्याओं पर प्रकाश डालता है, इसके अतिरिक्त साहित्य का अध्येता भाषा

विज्ञान के आधार पर भाषाओं के स्वरूप एवं गठन से इतना परिचित हो जाता है कि उसे अन्य भाषाओं को सीखने में सुविधा होती है। डॉ. वासुदेव नारायण अग्रवाल ने भाषा विज्ञान के सिद्धांतों के आधार पर जायसीकृत 'पद्मावत' के बहुत से शब्दों को उनके मूल रूपों से जोड़कर उनके अर्थों को स्पष्ट किया है, साथ ही शुद्ध पाठ के निर्धारण में भी इससे पर्याप्त सहायता ली है।

4. भाषा विज्ञान ध्वनि परिवर्तन या अर्थ परिवर्तन के कारणों को स्पष्ट कर जिज्ञासाओं को शांत कर देता है।

यद्यपि भाषा विज्ञान और साहित्य, दोनों का संबंध भाषा से ही है, दोनों का उद्देश्य भाषा का अध्ययन करना है, तथापि साहित्य के अध्ययन में भाषा पर विचार अर्थ की दृष्टि से किया जाता है, जबकि पहले भाषा विज्ञान में विशेष रूप से भाषा के स्वरूप का ही विचार किया जाता था।

एक वनस्पति-विज्ञानी और माली में जो अंतर है वस्तुत: वैसा ही भेद एक भाषा विज्ञानी और साहित्यसेवी में है। साहित्यकार के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह एक से अधिक भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करे, वह केवल एक भाषा का अध्ययन करता है और उसी की पूर्णता में अपनी संपूर्ण शक्ति को लगा देता है, परंतु भाषा विज्ञान का विद्वान केवल एक भाषा के ज्ञान से अपना कार्य सिद्ध नहीं कर सकता क्योंकि अनेक भाषाओं के ज्ञान के बिना उनकी परस्पर तुलना करना असंभव है जो कि भाषा विज्ञान का मुख्य आधार है।

इस प्रकार साहित्य और भाषा विज्ञान दोनों ही एक-दूसरे के पूरक हैं।

भाषा विज्ञान और व्याकरण

भाषा विज्ञान के वास्तविक रूप को समझने के लिए व्याकरण के अध्ययन की अत्यंत आवश्यकता है। इन दोनों का घनिष्ठ संबंध है। एक का अध्ययन करते हुए दूसरे का ज्ञान प्राप्त होना स्वाभाविक है। व्याकरण भाषा के टुकड़े-टुकड़े करके उसके ठीक स्वरूप को सामने लाता है, तथा भाषा विज्ञान को पढ़ते हुए व्याकरण की जानकारी हो जाती है। जैसा कि भर्तृहरि ने कहा भी है-

साधुत्व ज्ञानं विषया सैवा व्याकरण मृति:

अर्थात, "व्याकरण का कार्य भाषा तथा उसके शब्दों की साधुता तथा असाधुता का ज्ञान प्राप्त कराना है।"

प्राचीन काल में व्याकरण और भाषा विज्ञान में कोई विशेष अंतर नहीं माना जाता था अत: भाषा विज्ञान को 'तुलनात्मक व्याकरण' कहा गया था। परंतु दोनों में कुछ साम्य होते हुए भी पर्याप्त भेद दिखाई देता है।

- **भाषा विज्ञान और व्याकरण में साम्य**

1. भाषा विज्ञान और व्याकरण दोनों का संबंध भाषा से है। दोनों ही भाषा के विषय में अध्ययन करते हैं, उसकी व्याख्या करते हैं और उसके संबंध में नवीन तथ्यों तथा नियमों पर प्रकाश डालते हैं।

2. व्याकरण में चार दृष्टियों से अध्ययन किया जाता है-

क. वर्णनात्मक　　ख. विश्लेषणात्मक

ग. ऐतिहासिक　　घ. तुलनात्मक

भाषा विज्ञान में भी इन्हीं दृष्टिकोणों के आधार पर अध्ययन किया जाता है। विश्लेषणात्मक, ऐतिहासिक और तुलनात्मक रूपों में भाषा विज्ञान और व्याकरण प्राय: अभिन्न से हैं। अब कुछ विद्वान इन रूपों को भाषा विज्ञान के अंतर्गत मानते हैं। केवल व्याकरण को वर्णनात्मक रूप प्रदान करते हैं।

• व्याकरण और भाषा विज्ञान में वैषम्य

यद्यपि भाषा विज्ञान और व्याकरण दोनों का संबंध भाषा से ही है, परंतु दोनों की दृष्टि और उद्देश्य भिन्न-भिन्न होने के कारण दोनों में पर्याप्त भेद हैं। प्रमुख कारण निम्नांकित हैं–

भाषा विज्ञान

1. भाषा विज्ञान, एक विज्ञान है, वह भाषा का वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर अध्ययन करता है।
2. भाषा विज्ञान का क्षेत्र व्यापक व विस्तृत है। भाषा विज्ञान की दृष्टि किसी विशेष भाषा के सामान्य ज्ञान तक सीमित न रहकर भिन्न-भिन्न कालों और देशों की भाषाओं की ओर जाती है। भाषा विज्ञान के व्यापक सिद्धांतों और नियमों को निश्चित करने के लिए अनेक भाषाओं के ज्ञान की अपेक्षा रहती है। एक भाषा का संबंध दूसरी पृथक कालीन और पृथक देशीय भाषाओं के साथ जाने बिना भाषा विज्ञान में काम नहीं चल सकता।
3. भाषा विज्ञान विवेचन और शोध प्रधान है। भाषा विज्ञान भाषा के सिद्ध, शुद्ध एवं निष्पन्न स्वरूपों के कारणों एवं मूल की खोज करता है। इसका मुख्य लक्ष्य यही होता है कि वह शब्दों और अर्थों के वर्तमान या सिद्ध रूपों के कारणों को खोजकर उनके इतिहास और दूसरी मिलती-जुलती भाषाओं के साथ संबंध प्रकट करता है। उदाहरणस्वरूप- आग शब्द को लें- इसका इतिहास और उत्पत्ति यह है कि आग शब्द की उत्पत्ति 'अग्नि' से हुई, उसके पश्चात 'अग्नि' और फिर उससे 'आग' शब्द बना।
4. भाषा विज्ञान विविध भाषाओं का तुलनात्मक विवेचन करता है।
5. भाषा विज्ञान में भाषा रूपों के अतिरिक्त ध्वनियों, वाक्यों, अर्थों आदि का अध्ययन किया जाता है।
6. भाषा विज्ञान यह बतलाता है कि 'आग' शब्द किस तरह अपने मूल रूप अग्नि से विकृत होकर पहले 'अग्ग' और फिर 'अग्नि' बना।
7. भाषा विज्ञान भाषा के अनुशीलन के आधार पर नियमों का निर्धारण करता है।
8. भाषा विज्ञान एक गत्यात्मक ज्ञान का भंडार है। भाषा विज्ञान जिन नवीन बातों की खोज करके उनके विषय में सिद्धांतों और नियमों की घोषणा करता है, बाद में

व्याकरण भाषा विज्ञान के द्वारा प्रतिपादित उन नए विकासों को अपनाने लगता है। आज भाषा विज्ञान के अंतर्गत ध्वनि-विचार में हिंदी के अधिकतर अकारांत शब्द व्यंजनार्थ माने जाने लगे हैं, क्योंकि आज का हमारा उच्चारण 'राम' न होकर 'राम्' है। यदि यह परिवर्तन भाषा में कर दिया जाए तो व्याकरण लोग असंतुष्ट होने लगेंगे, भले ही बाद में वे भी उस मत के अनुगामी बन जाएं। अतः भाषा विज्ञान भी प्रगतिवादी या नवीनतावादी है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से धर्म से धम्म या धरम हो जाना अवनति या विकार का सूचक नहीं है अपितु वह भाषा का विकास है। इस प्रकार भाषा विज्ञान को हम व्याकरण का आधार कह सकते हैं, इसलिए व्याकरण को भाषा विज्ञान का अनुगामी कहा गया।

9. भाषा विज्ञान का संबंध भाषा मात्र से अर्थात सभी भाषाओं से है और उसके नियम भी व्यापक और स्थायी होते हैं।
10. भाषा विज्ञान भाषा की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करता है। इसी कारण वर्णनात्मक व्याकरण ही व्याकरण समझा जाता है और व्याख्यात्मक व्याकरण भी भाषा विज्ञान के अंतर्गत आ जाता है।

व्याकरण

1. व्याकरण कोई विज्ञान नहीं है, वह कला के अंतर्गत माना जाता है। व्याकरण की व्यावहारिक उपयोगिता भाषा का शुद्ध रूप, उसका बोलना, समझना और लिखना आदि है। पाश्चात्य विद्वान हेनरी स्वीट ने इसलिए व्याकरण को 'भाषा-कला' कहा है, क्योंकि उसका संबंध पूर्णतः निर्माण प्रक्रिया से है।
2. व्याकरण का क्षेत्र सीमित है। किसी भाषा के व्याकरण को जानने के लिए किसी दूसरी भाषा के ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। उसका संबंध मात्र एक ही भाषा से होता है।
3. व्याकरण वर्णन-प्रधान है। यह भाषा के सिद्ध, शुद्ध एवं निष्पन्न स्वरूप को दिखाता है। व्याकरण भाषा के व्यावहारिक रूप पर ध्यान देता है तथा भाषा के शब्द, अर्थ और इनके संबंध को प्रवृत्त मानकर चलता है। उदाहरण के लिए आग शब्द संज्ञा है, स्त्रीलिंग है, एक वचन है, यह व्याकरण ही बताता है। इसी प्रकार यदि कोई संस्कृत में एकादश न कहकर एकदश कहे तो व्याकरण केवल इसे अशुद्ध प्रयोग कहकर मौन हो जाएगा।
4. व्याकरण किसी एक भाषा तक ही सीमित रहता है।
5. आधुनिक व्याकरणों के अनुसार भाषा के रूप, रचना और वाक्य, गठन, रचना आदि व्याकरण के प्रमुख विवेच्य हैं।
6. व्याकरण तो केवल इतना ही बता सकता है कि आग शब्द संज्ञा है, एक वचन है, स्त्रीलिंग है आदि।
7. व्याकरण केवल नियमों के आधार पर भाषा की विवेचना करता है।

8. व्याकरण भाषा विज्ञान का अनुगामी है, दूसरे शब्दों में वह स्थित्यात्मक है। उदाहरण के लिए व्याकरण धम्म या धरम शब्द को अशुद्ध या विकार मानता है। स्पष्ट शब्दों में व्याकरण अप्रगतिवादी या पुरातनवादी है।

9. व्याकरण का संबंध भाषा विशेष से होता है और उसमें भी काल विशेष से व्याकरण तुलनात्मक भी हो सकता है, किन्हीं दो भाषाओं- जैसे, संस्कृत और लातिन की तुलना की जा सकती है किंतु वह तुलना भी भाषा-विशेष की ही होगी और साथ ही काल-विशेष की भी। तात्पर्य यह है कि तुलनात्मक रूप में भी व्याकरण की सीमा बनी रहती है।

10. व्याकरण एक कला है। वह भाषा और उसके शब्दों की साधुता और असाधुता पर विचार करती है।

5.3 भाषा विज्ञान की शाखाओं का परिचय

भाषा विज्ञान की तीन शाखाएं प्राप्त हैं–(1) वर्णनात्मक, (2) ऐतिहासिक तथा (3) तुलनात्मक।

5.3.1 वर्णनात्मक

किसी भाषा के कालविशेष के स्वरूप का अध्ययन और विश्लेषण कर कुछ नियमों का निर्धारण करना वर्णनात्मक भाषा विज्ञान के अंतर्गत आता है। जैसा कि वर्णनात्मक नाम से ही स्पष्ट है, इसमें भाषा के स्वरूप का वर्णन या विश्लेषण रहता है। वर्णनात्मक भाषा विज्ञान को ही दूसरे शब्दों में व्याकरण के नाम से अभिहित किया जाता है। इस शाखा के संबंध में इतना ध्यान में रखना चाहिए कि यह किसी भाषा के कालविशेष से ही संबद्ध होती है।

हम ध्वनि का वर्णन करें या पद का या वाक्य का, ये सारे तत्व किसी एक काल के ही होंगे। वर्णनात्मक भाषा विज्ञानी का लक्ष्य भाषा के विकास को दिखाना नहीं होता और न किसी अन्य भाषा से उसकी तुलना करना होता है। इसलिए विभिन्न विद्वानों ने वर्णनात्मक भाषा विज्ञान को स्थित्यात्मक भी कहा है, जिसका सर्वोत्तम उदाहरण पाणिनीय व्याकरण है। पाणिनि की विश्लेषणात्मक क्षमता पर विदेशी भी मुग्ध रह गए हैं और उन्होंने स्वीकार किया है कि भाषा के वर्णनात्मक अध्ययन का इससे उत्कृष्ट उदाहरण संसार के इतिहास में अलभ्य है।

आधुनिक भाषावैज्ञानिक अध्ययन में वर्णनात्मक प्रणाली का रूप अत्यधिक प्रमुख हो गया है और वह स्वतंत्र विज्ञान के रूप में गृहीत होने लगा है। इस प्रणाली के अनुगामी भाषा विज्ञान के अध्ययन में किसी दूसरे शास्त्र की सहायता लेना अभीष्ट नहीं मानते। यहां तक कि अर्थ-विज्ञान को भी उन्होंने अपने अध्ययन की सीमा से बहिष्कृत कर रखा है। उनका लक्ष्य केवल भाषा के उच्चरित रूप का अध्ययन करना है। उनके अनुसार अर्थ दूसरे शास्त्रों का प्रतिपाद्य है। भाषा विज्ञान को केवल भाषा के उच्चरित रूप पर ही विचार करना चाहिए। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह दृष्टि बड़ी ही एकांगी है। यदि अर्थ निरपेक्ष उच्चारण ही भाषा विज्ञान का विषय है, तो फिर मनुष्य की भाषा और पशु की भाषा

में अंतर क्या रहा? ध्वनि वाला अंश तो उभयनिष्ठ है। जैसी ध्वनि मनुष्य की वैसी पशु की। मनुष्य की ध्वनि की विशिष्टता यही है कि उसमें अर्थवत्ता का योग रहता है जो पशु की ध्वनि में नहीं रहता। अर्थवाला अंश हटा देने पर मनुष्य और पशु की भाषा का प्रमुख भेद तिरोहित हो जाता है। दूसरी बात यह है कि अर्थ को छोड़ देने पर भाषा के प्रयोग का उद्देश्य क्या रह जाएगा? हमने पहले देखा है कि वैयक्तिक या सामाजिक रूप में भाषा सार्थक संकेत है।

उसका जब भी प्रयोग होता है तो अर्थ की प्रतीति के लिए। उसके अभाव में ध्वनियां निरर्थक हो जाएंगी और निरर्थक ध्वनियों के अध्ययन का प्रयोजन महत्वहीन होगा। यह एक प्रकार से भाषा संबंधी देहवादी दृष्टिकोण है, जिसमें अर्थतत्व, जो भाषा का आत्म तत्व है, उपेक्षित हो गया है। यह संभवत: अमेरिका की भौतिकतावादी या देहवादी सभ्यता का प्रभाव है। एक समय काव्यशास्त्र में भी देहवादी संप्रदाय चल रहे थे। अलंकारवादियों या रीतिवादियों ने काव्य के बाह्य रूप पर ही ध्यान दिया और उसके आत्म तत्व की चिंता नहीं की।

परिवर्ती आलोचकों को इस भूल का परिमार्जन करना पड़ा। ठीक वही स्थिति आज भाषा विज्ञान के क्षेत्र में उत्पन्न हो गई है। भाषा विज्ञान की सीमा से अर्थ-विज्ञान का बहिष्कार वैज्ञानिक दृष्टि से न तो वांछनीय है, न संगत और न उससे भाषा का अध्ययन पूर्ण हो सकता है। सार्थकता ही मानव भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है। उसे छोड़ना दृष्टि-विभ्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

इसके अतिरिक्त तथ्य यह भी है कि भाषा के दो पक्ष हैं– ध्वनन तथा श्रवण। ध्वनन भाषा का केवल आधा भाग है। उसकी पूर्णता के लिए श्रवण उतना ही आवश्यक है जितना ध्वनन। ऐसी स्थिति में भाषा के अध्ययन को केवल ध्वनन तक सीमित रखना उसका अपूर्ण अध्ययन ही माना जाएगा। जिसे श्रवण कहते हैं वह भाषा का अर्थसापेक्ष अंश है। श्रवण तब तक संभव नहीं है या संभव होने पर भी निरुपयोगी है, जब तक उससे अर्थबोध नहीं होता। भाषा का प्रयोग ही किस काम का यदि श्रोता उससे कुछ समझ नहीं सके? इस दृष्टि से भी भाषा के अर्थपक्ष की उपेक्षा उचित प्रतीत नहीं होती।

5.3.2 ऐतिहासिक

वर्णनात्मक भाषा विज्ञान में किसी भाषा के काल विशेष के स्वरूप का अध्ययन किया जाता है। इसके प्रतिकूल भाषा विज्ञान में एक ही भाषा के विभिन्न कालों के स्वरूप का अध्ययन होता है। किसी भाषा के पुराने रूपों से नए रूपों का विकास किस प्रकार हुआ, यह दिखाना इस प्रणाली का कार्य है। अत: भाषाविज्ञानविद् सोसूर ने ऐतिहासिक प्रणाली को गत्यात्मक या विकासात्मक प्रणाली कहा है। उदाहरणार्थ, वैदिक युग से संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश सोपानों से होते हुए आधुनिक भाषाओं का ध्वनि, पद या अर्थ की दृष्टि से कैसे विकास हुआ हैं, यह दिखाना इस प्रणाली के अंतर्गत आएगा। उस विकास के क्या कारण थे, उन कारणों के क्या परिणाम हुए, इत्यादि बातें भी इस प्रणाली की सीमा में आती हैं।

भाषा के ऐतिहासिक अध्ययन में वर्णनात्मक अध्ययन अनायास आ जाता है, क्योंकि विकास दिखाते समय भी काल-विशेष की स्थिति को दिखाना आवश्यक होता है। भाषा

सिद्धांततः प्रतिपल परिवर्तित होती रहती है किंतु वह परिवर्तन इतना सूक्ष्म होता है कि इसे ग्रहण करना असंभव है। वह जब कालांतर में पूंजीभूत हो जाता है तभी अनुभव का विषय बनता है। इसलिए विकास के भी अनेक सोपान होते हैं और उन सोपानों की चर्चा ही ऐतिहासिक विकास के अंतर्गत आती है।

5.3.3 तुलनात्मक

तुलनात्मक प्रणाली में वर्णनात्मक और ऐतिहासिक प्रणालियों का अंतर्भाव हो जाता है। जहां वर्णनात्मक या ऐतिहासिक अध्ययन में किसी एक भाषा को आधार बनाया जाता है, वहां तुलनात्मक अध्ययन में अनेक भाषाओं को अध्ययन का आधार बनाना पड़ता है। बिना उनके तुलना हो ही नहीं सकती। तुलना के लिए दो या दो से अधिक भाषाओं के काल-विशेष के स्वरूपों को लिया जाता है। स्वभावतः उसमें वर्णनात्मक अंश आ जाता है। यदि काल-विशेष तक सीमित न रहकर भिन्न कालों के स्वरूपों को अध्ययन का विषय बनाया गया और उनकी परस्पर तुलना की गई तो वह ऐतिहासिक प्रणाली हो गई। इसीलिए वर्णनात्मक और ऐतिहासिक प्रणालियों के समन्वय से तुलनात्मक प्रणाली संभव हो पाती है।

वस्तुतः भाषा विज्ञान का जन्म ही तुलनात्मक प्रणाली से हुआ। अठारहवीं शताब्दी में संस्कृत, ग्रीक और लैटिन की तुलना से यह बात सिद्ध हुई है कि ये तीनों भाषाएं एक ही परिवार की हैं और इनका साम्य उसी का परिणाम है। इसीलिए बहुत समय तक भाषा विज्ञान को सदा तुलनात्मक भाषा विज्ञान (कम्पेरेटिव फिलोलॉजी) ही कहा जाता था। अब तुलनात्मक शब्द हटा दिया गया है, चूंकि बिना तुलना के भी भाषा विज्ञान की स्थिति संभव है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, वर्णनात्मक या ऐतिहासिक भाषा विज्ञान में तुलना की आवश्यकता नहीं होती। तुलना भाषा के किसी तत्व-ध्वनि, पद, वाक्य, अर्थ को लेकर हो सकती है।

आज अंग्रेज़ी में लिंग्विस्टिक्स और फिलोलॉजी दो शब्द चल रहे हैं। दोनों के अर्थ में अंतर है। लिंग्विस्टिक्स मुख्यतः भाषा के उच्चरित रूप से संबद्ध है, साथ ही उसमें भाषा का अध्ययन साध्य रूप में होता है। अर्थात भाषा का अध्ययन किसी दूसरे लक्ष्य के लिए नहीं, स्वयं भाषा की विशेषताओं के उद्घाटन और विवेचन के लिए किया जाता है। इसके विपरीत फिलोलॉजी साहित्यिक, सांस्कृतिक या सामाजिक महत्व के विभिन्न लेखों से संबद्ध है। उदाहरण के लिए, अशोक के अभिलेखों को ले लीजिए। उन अभिलेखों की लिपि या भाषा के अध्ययन से इतिहास के निर्माण में जो सहायता मिलती है, उसका निरूपण फिलोलॉजी के अंतर्गत आएगा। किंतु वैदिक युग में कितनी ध्वनियों का प्रयोग होता था, यह लिंग्विस्टिक्स बताएगा।

भाषिक इतिहास के आलोक में प्राचीन ग्रंथों, पांडुलिपियों आदि का अध्ययन और उनके द्वारा सामाजिक, सांस्कृतिक तत्व की व्याख्या फिलोलॉजी का उद्देश्य है। एक प्रकार से फिलोलॉजी भाषा विज्ञान (लिंग्विस्टिक्स) और मानविकी (ह्युमेनिटीज) के बीच की संयोजक कड़ी है। और भी स्पष्टता से कहें तो कह सकते हैं कि लिंग्विस्टिक्स में भाषा के उच्चरित रूप का अध्ययन होता है तो फिलोलॉजी में उसके लिखित रूप का।

इस प्रकार हमने देखा कि भाषा विज्ञान का वैज्ञानिक व विश्लेषणात्मक अध्ययन करने हेतु उसकी शाखाओं से भी भलीभांति परिचित होना आवश्यक है, क्योंकि इन उपर्युक्त शाखाओं को जाने बिना भाषा विज्ञान का ज्ञान प्राप्त करना असंभव है। वस्तुतः भाषा विज्ञान की उपर्युक्त तीन शाखाओं का भाषा विज्ञान में अत्यंत महत्वपूर्ण एवं उपादेयता की दृष्टि से सर्वोच्च स्थान है।

Institute of Distance Education
Rajiv Gandhi University

A Central University

Rono Hills, Arunachal Pradesh

Contact us:

+91-98638 68890 | Ide Rgu | Ide Rgu | helpdesk.ide@rgu.ac.in